पंडित अमरनाथ झा

पूज्य गुरुदेव

प० अमरनाथ झा, एम० ए०, डी० लिट्०

वाइस चांसलर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

की

सेवा में

सादर समर्पित ।

अपनी बात

हिंदी नाटक-साहित्य के इतिहास मे 'प्रसाद' जी सर्वप्रथम मौलिक और प्रसिद्ध नाटककार हैं, यह बात सर्वत्र मान्य है। आधुनिक नाटककारो मे उनका स्थान भी सर्वोच्च है। उनके नाटकों मे प्राचीन और आधुनिक नाट्यशैलियों का अत्यन्त सुन्दर सम्मिश्रण तो मिलता ही है, साथ ही उनका एक आदर्श है जिसने उनकी रचनाओं को एक अपूर्व रूप दे दिया है। इस आदर्श के उपयुक्त उपकरणो का भी उनकी रचनाओं मे अभाव नही है। प्रस्तुत पुस्तक में सुयोग्य लेखक ने 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नामक तीन ऐतिहासिक नाटकों को लेकर 'प्रसाद' जी की नाट्य-कला और उनके नाटकों का कथा-संगठन चरित्र-चित्रण, अंतर्द्वन्द्व, आदर्श आदि मुख्य-मुख्य बातों पर सरल और सुन्दर ढंग से विचार किया है। साहित्यिकों तथा विद्यार्थियों के लिए यह एक उत्तम और उपयोगी रचना है। अतः इसका नवीन संस्करण हिंदी पाठको के सामने रखते हुए हमे हर्ष हो रहा है।

पुरुषोत्तमदास टंडन,

मंत्री,

साहित्य भवन लि०, प्रयाग।

दो शब्द

यह पुस्तक कई वर्ष पूर्व ही प्रारम हो चुकी थी परन्तु अनेक कारणों से अब समाप्त हो सकी है। श्री प्रसाद जी के ऊपर इधर कुछ वर्षों मे ही अच्छा साहित्य प्रकाशित हो चुका है परन्तु उनके नाटकों का सम्यक् विवेचन अभी तक देखने मे नहीं आया। शिलीमुखजी की "प्रसाद की नाट्यकला" बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी थी। उसके बाद भी प्रसादजी की नाटक रचना जारी रही। शिलीमुखजी ने मुख्यतः अजातशत्रु तक प्रकाशित नाटकों के आधार पर ही प्रसाद की कला का विवेचन किया है। इसलिए बाद मे प्रकाशित दो महत्वपूर्ण नाटकों की आलोचना उनकी पुस्तक में नहीं आ सकी है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य शिलीमुखजी के कार्य को आगे बढ़ाना ही है।

दो शब्द पुस्तक के नामकरण पर निवेदन करना आवश्यक है। पुस्तक का नाम "प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक" रखा गया है यद्यपि इसमे इन नाटको की आलोचना की अपेक्षा लेखक का उद्देश्य प्रसाद की नाट्यकला का अध्ययन अधिक रहा है। स्थानाभाव के कारण प्रसाद के केवल तीन नाटको और उनमे आये हुए मुख्य चरित्रों का ही विवेचन हो सका है, परन्तु इस सीमित क्षेत्र मे भी प्रसाद की नाट्यकला के सभी अंगो का पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

पुस्तक लिखने मे मुझे जिन लेखको की पुस्तको से सहायता प्राप्त हुई है उनका मैं सदैव आभारी रहूँगा। उन लेखको के नाम उनकी पुस्तकों से लिए गये उद्धरणो के साथ ही दे दिये गये हैं। अपने बाल-मित्र श्री हनुमानप्रसाद तिवारी जी का मुझे बड़ा सहयोग मिला है परन्तु आत्मीयता की दृष्टि से उन्हें धन्यवाद देना ठीक नहीं मालूम

होता यद्यपि कभी-कभी आधी रात तक ठंड में बैठकर इस पुस्तक की पाण्डुलिपि संशोधन में जब उन्हें अधिक देर हो जाती थी तब मुझे उनके ऊपर दया भी आती थी और श्री पूज्य भाभीजी के क्रोध का स्मरण भी हो आता था। अपने दूसरे मित्र श्री राजेन्द्रसिंह गौड़ और श्री मानिकलाल जी को भी मैं इस समय नहीं भूल सकता जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने के लिए प्रेरित किया था और जिनकी स्वाभाविक सुहृदयता से मुझे समय-समय पर बड़ा उत्साह मिलता रहा।

अन्त में डाक्टर रामकुमार जी वर्मा का भी जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर इस पुस्तक की भूमिका लिखने का कष्ट किया है, मैं सब से अधिक ऋणी हूँ।

दुख है कि पूर्ण सावधानी रखते हुए भी पुस्तक में प्रेस की कई भूलें रह गई हैं। आशा है पाठकगण भाषा की इन त्रुटियों की ओर ध्यान न देंगे।

इस पुस्तक द्वारा यदि मैं साहित्य की कुछ भी सेवा कर सका तो अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

क्राइस्ट चर्च कालेज,
कानपुर,
२० अप्रैल, '४४

राजेश्वरप्रसाद अर्गल

भूमिका

साहित्य किसी भी राष्ट्र की ऐसी साधना है जिसमें उसे आत्माभिव्यक्ति के साथ ही साथ आत्मोन्नति की प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। यह आत्मोन्नति न केवल उसकी अंतरंग भावनाओं में होती है प्रत्युत उसके चारों ओर जो राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं, उनसे भी वह यथोचित स्फूर्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार साहित्य के विकास में परिस्थितियों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा करता है। साहित्य और समाज एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए अपने दृष्टि-बिन्दु निर्धारित करते चलते हैं।

हिन्दी साहित्य अपने निर्माण और विकास मे परिस्थितियो से विशेष प्रभावित हुआ है। चारणकाल, भक्तिकाल, कलाकाल और आधुनिक काल में जो विशेष विचार-धाराओं की प्रगति चली है, वह साहित्य की विविध शैलियों की जननी है। यद्यपि इतिहास का विभाजन विशिष्ट कालों में न होकर अपने विकास की परिस्थितियों में होना चाहिए। तथापि किसी भी काल की प्रमुख विचार-धाराएँ उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखी जा सकतीं। सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य के विकास मे ऐसी ही निर्माण सीमाएँ हैं जैसी किसी नाटक मे सधियाँ हुआ करती हैं।

हिन्दी साहित्य के विकास पर दृष्टि डालते समय ये परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिककाल जो भारतेन्दु के युग से प्रारंभ होता है, विचार धाराओं के तीव्र घात और प्रतिघात से अपने निर्माण मे विशेष सजग हुआ है। पश्चिम का संपर्क उसे अपने नवीन रूप के निर्धारण मे विशेष सहायक हुआ है। पश्चिम मे साहित्य ने जीवन की जिस दृष्टिकोण से आलोचना की है, वह दृष्टिकोण हिन्दी के सामने भी आया और उसके यथार्थवाद ने हिन्दी साहित्य को विविध विचार-

क्षेत्रों मे अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया। भारतीय विद्रोह, बग-भंग, महायुद्ध और असहयोग आन्दोलन आधुनिक साहित्य को अग्रसर करने मे सहायक हुए हैं और उनसे उन्हे स्फूर्ति भी प्राप्त हुई है। इसी समय हिन्दी साहित्य को पश्चिम के दृष्टिकोण से अपना विकास करते हुए भारतीयता के प्रति स्वाभिमान भी प्राप्त हुआ है। उसने नाटक, उपन्यास, कविता और कहानी मे सास्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि पर अपने आधुनिक सघर्षो मे भाग लिया है और अपने भविष्य-निर्माण का पथ प्रस्तुत किया है। साहित्य ने राष्ट्रीय भावनाओं के साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति भी अपनायी और ऐसी दृष्टि प्राप्त की जो भौगोलिक और ऐतिहासिक सीमाओं से नही रोकी जा सकी।

सास्कृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय विचारो को साहित्य मे प्रविष्ट कराने वाले साहित्य-निर्माताओ मे श्री जयशंकर 'प्रसाद' की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी रही है। नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी और निबन्धो मे उन्होने भारतीयता का अभिज्ञान जिस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है, वह हिन्दी साहित्य मे अद्वितीय है। उनके नाटक तो इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उन्होने भारतीय मनोविज्ञान को जिस स्पष्टता के साथ अकित किया है वह न केवल हिन्दी की अमर कृति है वरन् वह भारतीय इतिहास और साहित्य की अमूल्य निधि भी है। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त उनके ऐसे तीन नाटक हैं जिन पर किसी भी साहित्य को गर्व हो सकता है। उनके व्यापक दृष्टिकोण के तीन उदाहरण लीजिए :—

"अतीत के वज्र-कठोर हृदय पर जो कुटिल रेखा-चित्र खिच गये हैं, वे क्या कभी मिटेगे ? यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान मे कुछ रमणीय सुन्दर चित्र खींचिये, जो भविष्य मे उज्ज्वल होकर दर्शको के हृदय को शान्ति दे। दूसरों को दुखी बनाकर सुख पाने का अभ्यास कीजिये।"

[अजातशत्रु पृष्ठ ११३]

"युद्ध क्या गान नहीं है ? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का ताण्डव-नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौंदर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का यह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय मे साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में भी मंगल का—शिव का, सत्य सुंदर संगीत का समारंभ होता है।"

[स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ४५]

"समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते हैं। जिससे मिलने के सम्भार की इतनी धूमधाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाए रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक उसे उस श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है।"

[चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १३०-१३१]

प्रसाद के इस व्यापक दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है। प्रसाद जैसे कलाकार का अध्ययन आधुनिक आलोचना का विषय होना चाहिये। उसमें साहित्य के विद्यार्थियों को अपने जीवन के आदर्श प्राप्त होंगे। अभी तक प्रसाद के नाटकों की आलोचनाएँ और उनके दृष्टिकोण को पहिचानने के प्रयास कम हुए हैं। डा० जगन्नाथ प्रसाद तिवारी और शिलीमुख जी की कृतियाँ इस क्षेत्र मे प्रशंसनीय हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी इस दिशा मे एक सफल प्रयत्न है। श्री अर्गल जी हिन्दी के सफल समालोचक हैं और उन्होंने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रसाद के नाटकों का विशेष अध्ययन किया है। वे साहित्य में सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों का महत्त्व जानते हैं और इसी कारण वे प्रसाद की नाट्यकला और भाव-क्षेत्र की विवेचना

बड़े सुन्दर ढंग से कर सके हैं। प्रसाद के नाटकों का यह अध्ययन सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि पर पूर्णतया नवीन और मौलिक है। स्थानाभाव के कारण उन्होंने प्रसाद के तीन प्रमुख नाटक ही चुने हैं।

श्री अर्गल जी संगीतज्ञ, चित्रकार और काव्य-प्रेमी भी हैं। इन तीनों की समष्टि से वे प्रसाद जी की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पात्रों की भावात्मक सृष्टि पूर्ण रूप से समझने में सफल हुए हैं। देवसेना के चरित्र की दिव्य अनुभूति मुझे अर्गल जी की समीक्षा में पूर्ण सन्तोषजनक मिली। देवसेना के जीवन की संगीत-प्रियता में क्रीड़ा करता हुआ प्रेम और आत्मोत्सर्ग अर्गल जी की आलोचना मे स्पष्ट हुआ है। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त और चाणक्य की चरित्र-रेखा भी स्पष्ट हो गई है।

यह पुस्तक हिन्दी के विद्वान् और विद्यार्थियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करेगी यह मेरा विश्वास और सन्तोष है।

हिन्दी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय'
प्रयाग
२०-४-४४

रामकुमार वर्मा

विषय-सूची

प्रसाद की नाट्य-कला

भारतीय नाटक

नाटकों का जन्म

अनुकरण प्रवृत्ति ही नाट्य साहित्य की जननी है। अतएव नाटक के सभी उपकरण हमारी मानव वृत्तियों मे ही अन्तर्निहित हैं। उनके लिए न तो हमे समाज की और न संस्कृति की आवश्यकता है। परन्तु साहित्य सुव्यवस्थित समाज में ही विकसित हो सकता है; अतएव नाट्य साहित्य का प्रादुर्भाव सभ्यता के विकास के साथ ही साथ हुआ। आदिम निवासियों की अनुकरण प्रवृत्तियों ने धार्मिक उत्सवों पर देवता की पूजा को अधिक प्रभावशाली, शिक्षा-पूर्ण और मनोरंजक बनाने के लिए उनकी स्तुतियों को एक प्रकार की रासलीला अथवा राम-लीला मे परिवर्तित कर दिया, जिनमे उन देवी-देवताओं के जीवन की घटनाओं का अभिनय एक या दो पात्रों द्वारा किया जाता था। इन अभिनयों मे संगीत की प्रचुर मात्रा थी; क्योंकि वास्तव में ये देवी-देवताओ की प्रार्थनाएँ ही थीं। क्रमशः संगीत की मात्रा कम होती गई और बोल-चाल की भाषा का प्रयोग इन पूजाओं में होने लगा।

संस्कृति के विकास के साथ ही साथ इन अभिनयों में साहित्य की पुट भी दी जाने लगी।

भारतवर्ष के नाट्य साहित्य का उद्भव काल ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के परे अंधकार में छिपा हुआ है। वह किस समय विकसित हुआ यह ठीक रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रारंभ में इसकी रूपरेखा क्या थी, यह केवल कल्पना से ही या अन्य देशों के नवजात नाट्य साहित्य के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। यूनान और चीन के नाट्य साहित्य का जन्मकाल, उनकी शैशवावस्था तथा किशोरावस्था के विषय में हमारे पास प्रचुर सामग्री है। अतएव यूनान और चीन के साहित्यिक आधार पर ही हम भारत के प्रारंभिक नाट्य साहित्य की कल्पना कर सकते हैं।

बहुत पहले यूनान देश में डायोनिसस देवता की पूजा करने के लिए लोगों ने अजा-गीतों की रचना की थी। डायोनिसस हमारे यहाँ के गणेश जी के समान अर्द्ध मानव और अर्द्ध पशु थे। अन्तर केवल इतना ही था कि उनका मुँह मानवी था और देह अजा की। इसी कारण अजा-गीत गाते समय, गायक बकरी का चमड़ा अपने ऊपर ओढ लिया करते थे। अजा-गीत वास्तव में प्रार्थना ही थी और गाने के रूप में एक-दो पात्रों द्वारा कही जाती थी। धीरे-धीरे ये गीत परिवर्तित होकर ट्रेजडी या दुःखान्त नाटकों के नाम से प्रसिद्ध हो गये। सुखान्त नाटकों का भी प्रादुर्भाव इसी रूप में हुआ था। होली जैसे अश्लील उत्सवों पर लोग गाड़ियों में बैठकर अश्लील गीत गाते थे और रास्ते चलते तमाशबीनों पर व्यंग कसते जाते थे। यही अश्लील गीत धीरे-धीरे परिष्कृत होकर सुखान्त नाटकों के रूप में आ गये।

संस्कृत नाटकों का इतिहास

नाटकीय उद्भव के इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे यहाँ वैदिक-काल में ही नाटक रचना होने लगी थी; परन्तु उसके

वास्तविक रूप का हमें पता नहीं। महाभारत और रामायण-काल में हमें दो एक नाटकों के नाम मिलते हैं; परन्तु उन नाटकों की प्रतियाँ अभी तक प्राप्त नहीं हुईं। नाटकों का ऐतिहासिक ज्ञान हमें व्याकरणाचार्यों के समय से मिलता है। पाणिनी के कथानुसार उनके बहुत पहले ही भारतवर्ष में नाट्य साहित्य पर लक्षण ग्रन्थ आदि बन चुके थे। अतः यह स्वयं-सिद्ध है कि व्याकरण-काल तक यहाँ पर नाटकों का इतना प्रचार हो गया था कि लोगों ने उनके विषय में नियमादि बनाना प्रारंभ कर दिया था। पाणिनी का समय लगभग ३०० ई० पू० माना जाता है, इसलिए भारतवर्ष में ईसा के कई शताब्दी पूर्व से ही नाटक रचना होने लगी थी। कालिदास का समय जो पहले नाटकों का बालकाल समझा जाता था, वास्तव में नाटकों के विकास का मध्य युग था। यद्यपि यह सत्य है कि कालिदास के पूर्व के नाटकों का ज्ञान न होने से नाट्य साहित्य का अध्ययन कालिदास के ही समय से प्रारंभ होता है।

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी तथा शकुन्तला तीन बहुत ही उत्तम और विश्वविख्यात नाटक लिखे। शकुन्तला तो कवि की अमरकृति है जो कई भाषाओं में अनूदित भी हो चुकी है। कालिदास के उपरान्त श्री हर्ष ने नागानंद और रत्नावली नाटक लिखे तथा श्री शूद्रक ने मृच्छकटिक नामी एक सुन्दर और सर्वांगपूर्ण नाटक लिखा। इनके पश्चात् ८वीं शताब्दी में महाराज यशोवर्धन के राज-कवि भवभूति ने नाटकशास्त्रों के नियमों में विशदता और संशोधन-सा करते हुए अपने कई उत्तम नाटक लिखे जिनमें उत्तर रामचरित, महा-वीर-चरित और मालती-माधव विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने नाटकों में नाटकीय सिद्धान्तों का उल्लंघन भी यथेष्ट किया। परन्तु कवि की प्रतिभा ने कहीं भी इनकी कला को नीरस या शक्तिहीन नहीं बनाया।

९वीं शताब्दी में भट्ट ने और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक लिखे। इनके उपरान्त राजेश्वर ने बालरामायण और कर्पूरमंजरी की रचना की।

इस समय भारत पर यवनों के आक्रमण होने लगे थे और धीरे-धीरे हर्ष का विस्तृत साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। आपसी वैमनस्य ने भारतवर्ष को छोटे-छोटे राज्यों मे विभक्त कर दिया। द्वेष और प्रतिहिंसा के कारण हिन्दू राजा एक दूसरे के शत्रु बन गये। हिन्दू साम्राज्य का यह अवसान-काल था जिसके साथ ही साथ भारतीय संस्कृति, भारतीय कला और भारतीय साहित्य भी नष्ट हो रहा था। संस्कृत नाटकों का जो जाज्वल्य-मान मध्यान हमे कालिदास के समय मे मिलता है, उसकी अस्त होती हुई रूप-रेखा हमे बालरामायण और कर्पूरमंजरी मे समझना चाहिए। यवन आक्रमणों के कारण संस्कृत साहित्य अंधकार के गर्त मे विलीन हो गया और यद्यपि यत्र-तत्र कुछ संस्कृत साहित्यिकों ने अपने धुँधले प्रकाश से नाट्य साहित्य को आलोकित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उनमे रवि का तेज न था। उनकी मलिन ज्योति झिल-मिलाते हुए ताराओं और नक्षत्रों का ही प्रकाश था। मुसलमानी आक्रमणों के पश्चात् संस्कृत साहित्य फिर से गौरवान्वित न हो सका।

हिन्दी साहित्य मे नाटक

११वीं शताब्दी हिन्दी का विकास-काल था और उस काल के कवियों ने इसी नई भाषा को अपनी कृतियों मे अपनाया। संस्कृत उनके लिए मृत भाषा हो चुकी थी। अतएव इस काल मे संस्कृत नाट्य साहित्य की रचना समाप्त हो गई। मुगलों के शासन काल मे साहित्य के इस अंग की उन्नति न हो सकी, क्योंकि एक तो समय और परिस्थितियाँ इसके प्रतिकूल थी और दूसरे मुगल संस्कृति और धर्म मे नाट्य साहित्य के प्रति प्रेम न होने के कारण नाटकों को राजकीय प्रोत्साहन भी नहीं मिला। कभी-कभी हिन्दू महाराजाओं के यहाँ रामलीला या रासलीला-मंडली अपने खेल-तमाशे किया करती थीं; लेकिन इनमे धार्मिक प्रवृत्ति ही अधिक थी, साहित्यिक रुचि कम। अतः हिन्दी मे जहाँ कविता इतनी उन्नति कर गई, जहाँ उसका निजी साहित्य

काफी हो गया वहाँ एक या दो साधारण नाटकों को छोड़ कर नाट्य साहित्य की रचना १९वीं शताब्दी तक प्रारम्भ न हो सकी।

हिन्दी मे नाटक रचना भारतेन्दु-काल से ही प्रारभ होती है। कहा जाता है कि हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक नहुप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के पिता श्री गोपालचन्द्र जी ने व्रजभापा मे लिखा। इसके अनन्तर राजा लक्ष्मणसिंह जी ने बोलचाल की भाषा में कालिदास के शकुन्तला नाटक का अनुवाद उपस्थित किया। परन्तु नाटक लिखने की सच्ची प्रेरणा भारतेन्दु के ही हृदय मे हुई और इन्होंने साहित्य के इस अंग की यथाशक्ति सेवा की। कुल छोटे-बड़े सब मिलाकर ३० नाटक इन्होंने लिखे। जिनमे से कुछ तो न्यूनाधिक रूप मे सस्कृत नाटकों के अनुवाद हुए, कुछ छायानुवाद या उन पर सभारित हैं। इनके कुछ नाटक मौलिक भी हैं, लेकिन इनकी सब से बड़ी मौलिकता खड़ी-बोली के प्रयोग मे थी। और (इस प्रकार हिन्दी नाटकों का जन्म हुआ।)

हिन्दी मे नाटकों का जन्म अनुवाद और समानुवाद मे होना कोई आश्चर्यजनक नही है। क्योंकि प्रायः ८०० वर्षों के पश्चात् नाटकीय सिद्धान्तो और उपकरणों को जनता और लेखको के सामने बिलकुल मौलिक रूप मे उपस्थित करना असंभव ही था। इस कारण नवीन उत्साह उत्पन्न करने के लिए अनुवादो और छायानुवादों की सब से बड़ी आवश्यकता रहती है। भारतेन्दु जी ने नाट्यशास्त्र के नियम-उपनियमों पर भी कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था और साथ ही साथ इन्होंने बँगला और अँग्रेजी नाट्यशास्त्रों का उपयोग भी अपनी कृतियों मे किया था; लेकिन इनका अधिक झुकाव सस्कृत नाट्यशास्त्र की ओर ही रहा। इसी काल मे देहली के श्रीनिवासदास जी ने रणधीर-प्रेममोहनी नाटक लिखा जो विस्तार के कारण रंगमच के योग्य न था। उसका शिष्ट हास्य ही नाटक का प्राण है। प० बद्रीनारायण कृत भारत-सौभाग्य मे भी यही दोप आ गया है। नाटक काफी लम्बा है और ६० पात्रों का अभिनय मे भाग लेना नाटकीय दृष्टि से एक

कठिन समस्या है। इसी समय पं० बालकृष्ण भट्ट, लाला सीताराम जी और राधाकृष्णदास जी ने भी कुछ नाटक लिखे लेकिन इनमें, राधाकृष्णदास जी का 'महाराणा प्रताप' ही सर्वांग सुन्दर है और वह सफलता से अभिनीत भी हो चुका है।

अनुवाद की पद्धति तो पहले से चली आ रही थी लेकिन द्विवेदी-युग की अनूदित कृतियाँ बहुत ही सुन्दर और भावपूर्ण हैं। लाला सीताराम जी ने संस्कृत के नाटकों का अनुवाद किया जिनमें नागानंद, मृच्छकटिक, महावीर-चरित, मालती-माधव और उत्तर-रामचरित बहुत ही सफल अनुवाद हुए हैं। भाषा सरल और प्रवाहयुक्त है। मूल के भावों के फेर में पड़कर अनुवादक ने भाषा को क्लिष्ट और अर्थहीन नहीं बनाया है। श्री सत्यनारायण जी ने मालती-माधव और उत्तर-रामचरित का अनुवाद किया। कविताओं का अनुवाद पंडित जी ने बड़ी भावपूर्ण ब्रजभाषा में किया है, लेकिन मूल के भावों को यथा-शक्ति अनुवादित करने में इनकी भाषा कई जगह क्लिष्ट हो गई है। श्री रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी और रूपनारायण पांडे जी ने द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष के नाटकों के अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किये। इन अनुवादों में पांडे जी का दुर्गादास बहुत ही सुन्दर है। अन्य भाषाओं से भी अनुवाद होना प्रारंभ हुआ जिनमें महाराष्ट्र भाषा के छत्रसाल नाटक का विशेष आदर हुआ।

अभी तक साहित्यिक नाटक हिन्दी में नहीं लिखे गये थे, लेकिन जनता की रुचि नाटकों की ओर काफी बढ़ चली थी। पारसी नाटक कंपनियों के नाटक हिन्दी और उर्दू की खिचड़ी रहा करते थे जिनमें पद्य और गद्य का विचित्र सम्मेलन होता था। गद्य में बोलते-बोलते पात्रों का पद्य का आश्रय लेना स्वाभाविक समझा जाता था। देश, काल और पात्रों का भी विचार न रखा जाता था। वास्तविकता और स्वाभाविकता की ओर ध्यान देना दर्शकों की करतल-ध्वनि के सामने अधिक प्रशंसनीय न था। और यह करतलध्वनि, शेरबाज़ी से प्रत्येक

शोर के दाद मिल जाया करती थी। ऐसे रंगमंच और जनता से न तो जनता की रुचि ही परिष्कृत हो सकती थी और न साहित्यिकों का प्रयत्न ही सफल हो सकता था। पारसी कंपनियों के लेखकों में पं० हरीकृष्ण जौहर ही पहले लेखक थे जिन्होंने महाभारत नामक नाटक कलकत्ता की पारसी कम्पनी द्वारा खिलाकर भारतीय विषयों की ओर इन कम्पनियों का ध्यान आकर्षित किया। पं० राधेश्याम कथावाचक जी भी इन्हीं श्रेणियों के नाटककारों में से हैं इनके एक दो नाटक कुछ उच्च श्रेणी के भी हैं।

प्रसाद जी हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम मौलिक नाटककार हुए। इन्होंने एक ओर तो प्राचीनता का ध्यान रखा, दूसरी ओर अँग्रेजी और बँगला साहित्य से प्रभावित होकर नवीन मार्ग ग्रहण किया। इस तरह इनकी नाट्यशैली प्राचीन और अर्वाचीन नाट्यशैली की सम्मेलनभूमि है। एक ओर न तो आप पूर्ण आधुनिक ही हैं और न दूसरी ओर नितांत प्राचीन। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में जन्म लेने और बीसवीं शताब्दी में कला-विकास होने के कारण उनकी रचनाओं और चरित्र में १९ वीं और २० वीं दोनों शताब्दियों के उपकरण दिखाई देते हैं।

> "उन्नीसवीं शताब्दी ने उन्हे रोमांस के प्रति झुकाव, मस्ती, विलासितापूर्ण सरसता और झंझटों से यथासम्भव अलग रख कर सामान्य सुख के साथ जीवन् बिताने के भाव प्रदान किये और बीसवीं शताब्दी ने उन्हें यौवन का प्रवाह, परिवर्तनोन्मुखी प्रवृत्ति, भारतीयता की ओर झुकाव, विदग्धता तथा अस्थिर वेदना का दान दिया।"[1]

नाटकों के अन्तर प्रवाह में इस वास्तविकता और आदर्श का अनूठा मिलन है। जिसने प्रसाद के नाटकों को एक मौलिक रूप दे

---

[1] सुमन जी—'कवि प्रसाद की काव्य-साधना।'

दिया है। इनकी नाट्यशैली पूर्व और पश्चिम से प्रभावित अवश्य है परन्तु उसमें मौलिकता भी है।

प्रसाद में पूर्व और पश्चिम

आधुनिक नाटकों में पश्चिमी प्रभाव

आधुनिक हिन्दी नाट्य रचनाओं पर मुख्यतः बंगाली, अँगरेज़ी और संस्कृत नाट्यशास्त्रों का ही प्रभाव पड़ा है। इसके अभी तक कोई भी मौलिक सिद्धान्त नहीं। हिन्दी नाटक की यह शैशवावस्था ही है। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि वह दूसरों के सहारे चलने का प्रयत्न करे। कहीं कहीं कुछ नाटककारों ने अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी मौलिकता रखने का प्रयत्न किया है; परन्तु ऐसे उदाहरण कम ही हैं जहाँ पर उनकी मौलिकता अधिक सफल हो सकी हो। मुख्यतः अँगरेज़ी नाटकों का ही प्रभाव आधुनिक नाटककारों पर अधिक है क्योंकि आधुनिक शिक्षा में अँगरेज़ी का स्थान प्रमुख होने के कारण सभी लोग उसके साहित्य से भिज्ञ हैं। दूसरे, बंगाली साहित्य जो बहुत अंशों में अँगरेज़ी नाटकीय सिद्धान्तों से प्रभावित है, भारतेन्दु काल से ही हिन्दी लेखकों को अपनी ओर खींचने लगा था। इस प्रकार हिन्दी नाटकों पर बंगाली साहित्य के द्वारा अंग्रेज़ी साहित्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव बहुत दिनों से रहा है। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि यूनानी तथा अर्वाचीन अँगरेज़ी नाट्य-सिद्धान्त भारतीय नाट्यशाला के अनुकूल नहीं है। इसलिए अँगरेज़ी के एलिजाबेथ कालीन नाटककारों का ही प्रभाव हिन्दी में अधिक देखने को मिलता है। शेक्सपियर और उसके समकालीन नाटककार अपने नाटकीय आदर्शों और सिद्धान्तों में संस्कृत नाट्यशास्त्र के अधिक समीप हैं। उनका वातावरण भारतीय संस्कृत नाटकों के रोमान्टिक वातावरण के समान ही रहा है। यही कारण है कि इब्सन, शॉ और गेल्सवर्दी आदि का प्रभाव राय तथा अन्य बंगाली नाटककारों में कम ही दिखाई देता है। हिन्दी में इब्सन

के नाटकों के अनुवादों को छोड़ कर अभी तक कोई भी ऐसी कृति नहीं जो अंग्रेजी साहित्य के आधुनिक मनोवेगों से भरी हुई हो। हाँ, एकाकी नाटकों की बहुलता अवश्य ही आधुनिक पश्चिमीय एकाकी नाटकों के कारण है और सामाजिक समस्याओं, कथासंगठन, भाषा और वातावरण में वे उन्हीं के सदृश हैं; लेकिन नाटकों पर उनका प्रभाव नहीं के बराबर है। यत्र-तत्र कुछ प्रयत्न भी इस ओर किये गए हैं, परन्तु वे अधिक सफल नहीं कहे जा सकते।

प्रसाद जी की नाट्य-रचना बंगाल के द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों से अधिक प्रभावित है और राय बाबू के नाटक स्वयं ही पश्चिमी प्रभावों से ओत-प्रोत हैं। अतएव प्रसाद जी की रचनाओं में पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों के उपकरणों का होना स्वाभाविक ही है। साथ ही अपनी रुचि और संस्कृति के कारण प्रसाद जी सब से अधिक भारतीय भी हैं, इसलिए प्रसाद जी की नाट्य-कला एक रूप से पूर्व और पश्चिम नाट्यशास्त्रों की सम्मेलन-भूमि है जिसको उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर बहुत कुछ नया रूप दे डाला है।

संस्कृत नाटकों में कारुण्य

संस्कृत नाटकों का निर्माण धार्मिक नींव पर ही हुआ है। धर्म के सिद्धान्त ही नाटक के उपकरणों में बिखरे हुए थे। अध्यात्मवाद में ओतप्रोत राष्ट्र के लिए यह स्वाभाविक ही था कि उसका साहित्य भी अध्यात्मवाद का ही एक रूप हो। अतएव गीता में बतलाये हुए

> अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
> स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः॥
>
> \+ \+ \+
>
> न जायते म्रियते न कदाचन .....न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

कर्म की प्रधानता और आत्मा की नित्यता में विश्वास संस्कृत साहित्य के प्रत्येक अंग पर अपना अस्तित्व जमाये हुए है। हमारा जीवन हमारे

पूर्वकर्मों का फल है यदि हम सुखी हैं तो यह सुख हमारे पुण्यकर्मों का पुरस्कार है और दुःख हमारे नीच कर्मों का दण्ड। ईश्वर ही हमारे कर्मों की परख करता है। नित्य अच्छे कर्म करने पर आत्मा नित्यप्रति उन्नति करती हुई मोक्ष पाकर आवागमन के बन्धनो से छूट जाती है। जब तक आत्मा मे पूर्ण शुद्धता नही तब तक निर्वाण उसके लिए सम्भव नही। भिन्न-भिन्न रूप, भिन्न-भिन्न जीव उसी एक सत्ता के रूप हैं - सब मे हमारा यही आत्मा विद्यमान है। पुण्यकर्म करने पर आत्मा एक शरीर छोड़ अच्छे शरीर को धारण करती है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है, वह नित्य है अमर है। कर्म की प्रधानता और आत्मा की नित्यता मे विश्वास करने के कारण संस्कृत नाटकाचार्यों के सिद्धान्त यूनानी नाटकाचार्यों से भिन्न हो गये। संस्कृत नाटको मे यूनानी नाटको के समान दुखान्त नाटक नहीं है; क्योंकि यहाँ पर मृत्यु इतनी अधिक दुखदायी नही जितनी पश्चिम मे। मृत्यु होना केवल आत्मा का एक वस्त्र त्याग कर दूसरा वस्त्र धारण करना ही तो है! जब तक चौरासी लाख योनियो का चक्र जीवात्मा पूरा न करेगी तब तक उसे मोक्ष कहाँ? मृत्यु हमे हमारे अन्तिम उद्देश्य की ओर ही तो ले जाती है—वह तो केवल नये जीवन का सन्देश ही है। फिर मृत्यु से दुख क्यों? यही कारण है जिससे संस्कृत नाटको मे हमे यूनानी जैसे दारुण दुखान्त नाटक नहीं मिलते।

आपत्तियों का सामना करना प्रत्येक महान् पुरुष का कर्त्तव्य है। यही तो सोने की परख बताती है, "कष्ट हृदय की कसौटी है। तपस्या अग्नि है"—देवसेना। इस कारण जो जितनी आपदाओं का सामना करेगा उसकी आत्मा उतनी ही अधिक दीप्यमान् होगी। आपत्तियाँ दुःख के नहीं, सुख के क्षण हैं। उनमे दुःख देखना अपनी आत्मा के प्रति अपराध करना है। आपदाएँ मोक्ष का सुगम पथ हैं, हमारी परीक्षा का उत्तम साधन। दूसरे हमारे इस जीवन का दुःख हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है जिसे हमे भोगना ही पड़ेगा। वह हमारे दुष्कर्मो

का परिणाम है, आत्मा की नवीनता पाने के लिए हमें कष्ट सहने ही होंगे। शकुन्तला की आपत्तियाँ उसके अतिथि-सत्कार में भूल होने के फलस्वरूप थीं। देवी सीता की करुणावस्था उनके पूर्वजन्म की भूल का दण्ड थी। इसी कारण ही इन देवियों की करुण गाथा इन नाटककारों के हृदय को अधिक न हिला सकी।

फिर भी मृत्यु और आपत्तियाँ संसार की कठोर समस्याएँ हैं। अतः संस्कृत नाटकाचार्यों ने मृत्यु का रंगशाला पर दिखाना वर्जित कर दिया है; क्योंकि उनके आदर्शानुसार साहित्य का उद्देश्य सुख और शान्ति का संदेश देते हुए जीवन का आदर्श स्थापित करना है। इस कारण भी संस्कृत में दुखान्त नाटकों की रचना नहीं हुई। करुण-रस नाटकों में अवश्य रहता था लेकिन उसमें वह तीव्रता न रहती थी जो शेक्सपियर की ट्रेजडियों में हमें मिलती है। प्रसाद जी के तीनों ऐतिहासिक नाटक करुण रस से परिपूर्ण हैं। और यद्यपि चन्द्रगुप्त का अन्तिम अंक सुखान्त है, परन्तु स्कन्द और अजातशत्रु में सुख और सफलता के सागर में करुण रस की हिलोरें ही उठती दिखाई देती हैं। स्कन्दगुप्त के अन्तिम दृश्य में जो करुणता व्याप्त है, वह वैराग्य का भाव हमारे हृदय में उत्पन्न कर देती है। देवसेना और स्कन्द का त्याग, उनके जीवन में आये हुए घोर नैराश्य के फलस्वरूप ही तो है।

> "हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा, जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं। जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सब से मैं विदा लेती हूँ।......"

परन्तु यह कारुण्य शेक्सपियर के अन्तिम दृश्यों से कितना भिन्न है—इसमें शोक नहीं, दुख नहीं, हृदय को हिला देने वाली करुण कथा नहीं—केवल जीवन का महान आदर्श रखते हुए शान्ति में उसकी समाप्ति है। हृदय इस लोक को छोड़ अन्य लोक में जा पहुँचता है।

स्कन्दगुप्त की ये अन्तिम पंक्तियाँ किसके हृदय में त्याग का भाव उत्पन्न न कर देंगी।

"कष्ट हृदय की कसौटी है। तपस्या अग्नि है। सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य क्षमा।"

इतिहास की दृष्टि से महाराज बिंबसार की मृत्यु अन्तिम दृश्य में आवश्यक थी, परन्तु मरणान्त होते हुए भी अजातशत्रु सुखान्त नाटक ही रहा है। हृदय की उत्कट वासनाओं का अन्त शान्ति में होता है। विरुद्धक, श्यामा, मागन्धी, छलना और अजात अपने अपने चित्त के विकारों को छोड़कर सत्पथ पर आते हैं। यद्यपि बिंबसार का अन्तिम अंक में लड़खड़ा कर गिरना उसकी मृत्यु का द्योतक है, परन्तु यह दृश्य सुख और शान्ति का ही दृश्य है। महाराज बिंबसार की मृत्यु "ओह इतना सुख मैं एक साथ सहन न कर सकूँगा" कहते हुए ही होती है; साथ ही भगवान् गौतम का प्रवेश और उनका अभय हाथ उठाना बिंबसार के हृदय की तथा उस अवसर की पूर्ण शान्ति का सूचक है। अजातशत्रु का कथानक कुछ अंशों में शेक्सपियर के रिचर्ड द्वितीय और किंग लियर से मिलता है। परन्तु प्रसाद जी का नाटक शेक्सपियर के नाटक से बिलकुल ही भिन्न है। अजातशत्रु नाटक शेक्सपियर के हाथों में किंग लियर के समान भयानक ट्रेजडी होती।

जीवन का महान आदर्श उपस्थित करने के लिए तथा नाटकों द्वारा जनता में सुख शांति का सन्देश देने के लिए, संस्कृत नाटकों ने यह नियम बना रखा था कि नाटकों के नायक सर्वलोक प्रसिद्ध हों तथा उनके कथानक हमारे धार्मिक अथवा ऐतिहासिक ग्रंथों से ही लिये जावें। राजाओं या देवताओं के जीवन साधारण-जनसमूह के लिए वैसे ही मनोरंजक रहा करते हैं। साथ ही ऐसे चरित्र दर्शकों के हृदय में अपने आप ही पुण्य के प्रति प्रीति और पाप के प्रति घृणा उत्पन्न करा सकते

है। पाप का पतन दिखाने के लिए या नायकों के चरित्रों के आदर्शों को अधिक दीप्तिमान करने के लिए खल-नायको (Villain) के पूर्ण विकसित चरित्र भी रखे जाते थे, लेकिन पश्चिमी दृष्टि से यहाँ पर कोई Poetic Justice न होता था जहाँ कि पापी अपने दुष्कर्मों का परिणाम भोगे और पुण्यात्मा विजयी हों। पापी की सबसे बड़ी यंत्रणा उसकी मनोवेदना है—उसकी आत्मा की भर्त्सना है। अतएव भौतिक वा शारीरिक कष्ट न दिखला कर, साथ ही नायकों का महान् आदर्श उपस्थित करने के लिए प्रत्येक पापी नायक द्वारा क्षमा कर दिया जाता था। इस प्रकार इन चरित्रों के द्वारा तथा उनकी जीवन-घटनाओं के द्वारा नाटक एक आदर्श वातावरण का ही चित्र मालूम होता था। भटार्क की भर्त्सना और स्कन्द, चाणक्य अथवा बिंबसार का क्षमा-दान इसी रूप मे ही है।

कर्म का आदर्श संस्कृत नाट्यकारो के सम्मुख सदा ही रहता था और इस दृष्टि से त्याग और सेवा नायक के सबसे बड़े गुण थे। चाणक्य सचमुच मे कूटनीति का निर्माता था और उसका कौटिल्य नाम उसके चरित्र का ही द्योतक है। लेकिन उस ब्राह्मण ने जो कुछ किया दूसरों के लिए—स्वयं के लिए नहीं। इसी कारण वह मुद्राराक्षस का नायक हो सका। चन्द्रगुप्त का चाणक्य भी कर्म के इसी आदर्श की भावना है।

> "मौर्य्य तुम्हारा पुत्र आर्य्यावर्त्त का सम्राट है। अब और कौन सा सुख तुम देखना चाहते हो? काषाय ग्रहण कर लो जिसमे अपने अभिमान को मारने का तुम्हें अवसर मिलेगा।"

\+ \+ \+

> "कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है। भगवान् सविता तुम्हारा आलोक जगत् का मंगल करे। मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ।"

चक्रवर्ती सम्राट भी अपना कार्य करते हुए अन्त मे तपोभूमि की ओर ही जाते है। इस उद्देश्य के कारण संस्कृत नाटको के अन्तिम

दृश्य चाहे वे करुण रस से ओतप्रोत हो या उनमे सुख का समीर बहता हो, सदैव एक अनुपम शान्ति लिये हुए रहते हैं। जो शान्ति इस ससार के वातावरण से भिन्न हमे दूसरे वातावरण की ओर ले जाती है। प्रसाद जी के सभी नाटको का अन्त इसी शान्ति मे होता है। उनमे एक प्रकार का वैराग्य भाव मालूम होता है।

"यदि मैं सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलय झुरमुट मे एक अधखिला फूल होता और ससार की दृष्टि मुझ पर न पडती, पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले मे चू पडता, तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व मे न मचता।"—अजातशत्रु

\+ \+ \+

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नाटक के अन्तिम दृश्यो के उदाहरण हम ऊपर उद्धृत कर ही चुके हैं।

आदर्श वातावरण चित्रित करने की दृष्टि से संस्कृत नाटको मे नित्यप्रति की बातो का प्रदर्शन वर्जित था। कटु सत्यता और भौतिक-वाद रगमंच पर दिखाना आचार्यों के सिद्धान्त के प्रतिकूल था, क्योंकि ऐसे दृश्य आदर्श लोक के निर्माण मे बाधक रहते हैं। इसी कारण भरतमुनि ने लम्बी यात्रा, हत्या, युद्ध, राजविद्रोह, खाना-पीना, कपड़े पहनना, स्नान आदि का दिखलाना निषेध कर दिया था। प्रसाद जी ने इस नियम के विरुद्ध जो दृश्य रखे है, वे केवल पश्चिमीय नाटको के प्रभाव के कारण हो।

सस्कृत नाटको मे प्रकृति वर्णन

सस्कृत नाटको के धार्मिक सस्कारो के कारण ही उनका प्रकृति वर्णन अतिरञ्जित हो उठा है। आत्मा केवल मनुष्य मे ही नही है। परमात्मा विश्वात्मा है। अतएव क्या फल-फूल, क्या पशु-पक्षी सब मे सहोदर का संबंध, सभी एक दूसरे के दुःख से दुखी और एक दूसरे के

सुख से सुखी होते हैं। सीता और शकुन्तला का वियोग उन्हीं तक सीमित न था। उनमें प्रकृति की भी पूर्ण सहानुभूति थी। पूर्ण प्रकृति उन विश्वात्मा का प्रतिबिम्ब ही ता है। रहस्यवादी कवि भी आत्मा की नित्यता और जीव की एकता में विश्वास करता है, और प्रथम रहस्यवादी कवि होने के कारण भी प्रसाद जी इस प्रभाव से अछूते नहीं बचे हैं। यद्यपि संसार के किसी भी देश के नाटकों में रहस्यवाद नहीं पाया जाता लेकिन प्रसाद जी के रहस्यवाद का प्रभाव उनके नाटकों पर थोड़ा बहुत अवश्य है। देवसेना प्रकृति देवि की ही सौम्य मूर्ति है। उसका संगीत और फूलों से लदे हुए पारिजात का संगीत एक ही है।

"तुमने एकान्त टीले पर, सब से अलग, शरद के सुन्दर, प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ पारिजात वृक्ष देखा है ?

"नहीं तो।

"उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटका कर, ताली बजाकर झूम-झूम कर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत वह स्वयं देखता है, सुनता है। उसके अन्तर में जीवन शक्ति वीणा बजाती है। वह बड़े कोमल स्वर में गाता है—

घने प्रेम तरु तले ."

संस्कृत नाटको में चरित्र चित्रण,

संस्कृत नाटकों की तीसरी विशेषता उनके चरित्र-चित्रण की है। संस्कृत नाटकों की तीसरी विशेषता उनके चरित्र-चित्रण की है। यूनानी नाटकों के प्रतिकूल संस्कृत नाटकों में चरित्रों की संख्या अधिक रहा करती थी और उनमें सभी वर्गों के चरित्रों का चित्रण भी होता था। संस्कृत नाट्यशास्त्रों ने चरित्रों को कई वर्गों में विभाजित किया है और साथ ही प्रत्येक वर्ग की मुख्य-मुख्य बातों का समावेश

किया है। प्रसाद जी के नाटकों में यद्यपि नाटकीय पात्रों की भरमार है परन्तु उसे सस्कृत का प्रभाव कहना भूल होगा। नाटककार की चरित्र निर्माण-शक्ति स्वयं नाटककार की प्रतिभा और कल्पना पर अवलम्बित रहती है—बाह्य प्रभावो पर नहीं।

सस्कृत नाटकों का वातावरण यूनान के नाटकों के वातावरण के समान प्रत्यक्षवादी नहीं रहता। संस्कृत नाटक देवी-देवताओं के चरित्रों द्वारा, पौराणिक और ऐतिहासिक कथा संघटन द्वारा और अपनी कल्पना शक्ति के सहारे एक दैवीय, अलौकिक, आदर्शात्मक वातावरण को निर्मित करते हैं। यूनानी नाटक भी यद्यपि अतिप्राकृत (Sup-r natural) शक्तियों को रंगमच पर लाते हैं; परन्तु वे अप्रत्यक्ष रूप से ही, इस संसार के लोगों को खिलौना मात्र समझ कर ही, काम करती हैं। यूनानी नाटक की केथारसिस और भाग्य का व्यंग हमारी वास्तविक परिस्थिति को और भी अधिक विकट बनाने को रहा करती है। प्रसाद जी के नाटक इस रूप मे भी संस्कृत के नाटकों के अधिक समीप हैं। उनके कथानक, और पात्र आदर्शलोक का ही निर्माण करते हैं और यद्यपि उनके नाटको मे देवी-देवताओं तथा लोकोत्तर शक्तियों को स्थान नहीं दिया गया है, परन्तु उनके आदर्श चरित्र भगवान् बुद्ध, मल्लिका, वासवी, देवकी, देवसेना, आदि अपने दैवीय गुणो में किन देवताओं से कम हैं? संस्कृत के इस आदर्शलोक मे वास्तविकता लाने के लिए नाटकाचार्यों ने विभिन्न प्रान्तों की बोलियों का उपयोग करने की आज्ञा दी है। उनके ब्राह्मण और राजकुमार आदि देववाणी संस्कृत मे बोलते हैं, स्त्रियाँ प्राकृत भाषा मे, और अन्य चरित्र अपने-अपने प्रान्तों की बोली का उपयोग करते हैं। प्रसाद जी ने प्रान्तीय बोलियों का उपयोग नहीं कराया है, लेकिन वास्तविकता रखने के लिए भिन्न-भिन्न पात्रों की भाषा मे चरित्रानुसार काफी अन्तर कर दिया है।

संस्कृत नाटकों में काव्य

संस्कृत नाटकों में काव्यानुरक्ति अधिक देखने में आती है, और इस दृष्टि से वे एलिजाबेथ कालीन नाटककारों से बहुत अधिक मिलते हैं। गद्य में बात करते करते वे पद्य का अनुसरण करने लगते हैं। भिन्न-भिन्न छन्दों में सुन्दर कविताएँ नाटककारों ने सजा कर रखी हैं। ये कविताएँ कहीं तो गाने के लिए हैं और कहीं केवल पठन करने के लिए ही। प्रसाद जी ने अजातशत्रु में अधिकतर संस्कृत नाटकों का ही अनुसरण किया है। यद्यपि आधुनिक वास्तविकता की ओर ध्यान रखते हुए उन्होंने पद्य के इस उपयोग में बहुत परिवर्तन कर दिया है। स्कन्द-गुप्त और चन्द्रगुप्त में उन्होंने इस नियम को पाला नहीं। फिर भी भारतीय संस्कृति को वे छोड़ न सके। पद्य की अपेक्षा उन्होंने गद्य-काव्य का ही उपयोग अधिक किया है। संस्कृत नाटकों में पद्य का यह उपयोग आदर्श वातावरण उपस्थित करने के साथ ही साथ रस-संचार करने के लिए भी होता था। प्रसाद जी के ये स्थल भी नाटकों को इस आधुनिक वातावरण से दूर प्राचीन भारत में ले जाते हैं। वे हमारे सामने नित्यप्रति के जीवन से भिन्न एक नया जीवन उपस्थित कर देते हैं जिसकी ओर हम सतृष्ण देखा करते हैं।

पश्चिमी और संस्कृत नाटक

संस्कृत नाटक पूर्ण रूप से (Romantic) रोमांटिक नाटक थे। इस कारण वे अँग्रेजी के शेक्सपियर आदि ऐलिजावेथ कालीन नाटकों से बहुत अधिक मिलते हैं। पश्चिमी नाटकों का जो प्रभाव बंगाली या भारतीय भाषाओं पर पड़ा उसमें एलिजावेथीय नाटकों का प्रभाव मुख्य है; क्योंकि वे संस्कृत नाटकों से कई बातों में पूर्ण रूप से मिल जाते हैं। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक शेक्सपियर से अधिक प्रभावित हैं, और प्रसाद जी के नाटकों पर भी यदि पश्चिमी प्रभाव कहीं दिखता है, तो वह भाषा और वातावरण में ही, और इस रूप में वे पश्चिमी

आधुनिक नाटको से दूर शेक्सपियर के नाटको के समीप ही दिखते हैं। आधुनिक रुचि के फलस्वरूप भी प्रसाद जी ने नाटक रचना मे संस्कृत नाट्यशास्त्रो की कई बाते छोड़ दी है और पश्चिमी नाटको की कई बातें ग्रहण कर ली हैं। लेकिन स्थूल और ऊपरी छोटी-छोटी बातों को छोड़ कर यह दिखलाना कि प्रसाद जी पर कितना पूर्वी और कितना पश्चिमी प्रभाव है—एक दृष्टि से असम्भव ही है—क्योंकि कला के नियम सार्वभौमिक होते हैं: अतएव पश्चिमी और पूर्वी नाटकों का एक मुख्य अन्तर, जो हम ऊपर देख आये हैं, छोड़ अन्य बाते एक ही सी मालूम होती हैं। कला के उद्देश्य मे भी कई पश्चिमी नाटकाचार्य संस्कृत नाटको के समीप आते हैं। होरेस का, नाटक का पाँच अंको मे विभाजन और रंगमंच पर अच्छी बाते ही दिखाना सस्कृत नाट्यशास्त्र के सिद्धान्त के ही अनुकूल है। सिडने और रिनासेंस के नाट्य-आलोचक तो अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन मे सस्कृत के नाटक के उद्देश्य को ही अपनाते हुए मालूम होते हैं, यथा सिडने का यह सिद्धान्त, कि "नाटककार को कला का उद्देश्य पूर्ण करने के लिए, (जनता का) मनोरंजन करते हुए शिक्षा देना चाहिए", संस्कृत के सिद्धान्त का ही रूपान्तर मात्र मालूम पड़ता है। भारतीय नाटको का अलौकिक वातावरण और करुणापूर्ण सुखान्त ऐलिजावेथीय रोमान्टिक ट्रेजिक-कामेडी से इतना अधिक मिलता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी का राज्य जमने पर १९वीं शताब्दी मे एलिजावेथ कालीन नाटको ने भारतवर्ष मे अपनी दृढ नीव जमा ली। अन्य बातो मे भी संस्कृत नाटक और पश्चिमी नाटक के सिद्धान्त एक से ही हैं। संस्कृत नाटकों के कथा-संगठन और चरित्र-निर्माण के सिद्धान्तों मे कोई विशेपता न थी, केवल नाटककारो को देव-चरित्रो और लोक-विदित घटनाओ का ही समाहार करना पड़ता था। प्रधान और प्रासंगिक दोनों प्रकार की घटनाओं का निर्वाह नाटको मे होता था। यूनानी काल और समय संकलन के सिद्धान्त संस्कृत नाटको मे नही था; फिर भी कहीं-कही

नाटककारो ने इन नियमों को रखा है। रत्नावली के सभी अंकों की घटना राजप्रासाद के उपवन के भिन्न-भिन्न भागो मे ही होती है, परन्तु इसे नियम का अपवाद ही समझना चाहिए।

नाटक मे प्रायः पाँच से दस अंक तक रहा करते हैं और उनमे कथावस्तु को फल की ओर अग्रसर करने वाली पाँच प्रकृति रहती हैं—जो बीज, पताका, बिन्दु, प्रकरी और कार्य कहलाती हैं। पूरा कार्य प्रायः पाँच भागों में बाँटा जाता है आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। अवस्थाएँ केवल कार्य या व्यापार शृंखला की भिन्न-भिन्न स्थितियों की सूचक हैं। अर्थ प्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्त्वों की द्योतक हैं। रचना की दृष्टि से नाटक के विभाग संधियो द्वारा बतलाये जाते थे। ये सन्धियाँ भी पाँच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण संधि। कथानक की ये प्रकृति अवस्थाएँ और सधियाँ संस्कृत नाटको की अपनी निजी कोई वस्तु नहीं, प्रायः सभी नाटको के कथा विकास मे ये अवस्थाएँ रहती हैं।

नाटक का प्रारम्भ पूर्व रंग से किया जाता है जिसमे नांदीपाठ और दर्शकों से नाटककार की ओर से प्रार्थना रहती है। उसके पश्चात् सूत्रधार प्रस्तावना द्वारा विषय की भूमिका उपस्थित करता है। कभी कभी नट-नटी से भी यह काम कराया जाता है। प्रस्तावना के बाद नाटक प्रारम्भ होता है। नाटक कई अंक और गर्भांकों मे विभाजित रहता है। आकाशवाणी और नेपथ्य का भी उपयोग किया जाता है। नाटक के अन्त मे देवताओं के लिए प्रार्थना होती है।

संस्कृत नाटक और प्रसाद

प्रसाद जी के नाटक दार्शनिक क्षेत्र तक ही संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुकूल हैं। अन्य ऊपरी बातो मे उन्होने आधुनिक रुचि के अनुसार परिवर्तन कर दिया है। प्रारम्भ मे तो अवश्य ही उन्होंने कविता पाठ आदि रखा था परन्तु ऐतिहासिक नाटको मे उन्होने आधुनिक शैली को ही अपनाया है। इनका प्रथम नाटक सज्जन था जो चित्राधार नामक

पुस्तक मे संग्रहीत है। इस काल मे काव्य-क्षेत्र से चलकर नाटककार नाटक की नवीन भूमि मे आ रहा था अतएव प्रारम्भिक नाटकों में काव्य का सहारा लेना स्वाभाविक ही था। करुणालय और उर्वशी के सभी पात्र कविता मे बातचीत करते हैं। धीरे-धीरे गद्य की मात्रा बढ़ती गई। अजातशत्रु तक पद्य का कुछ न कुछ सहारा ये लेते ही रहे। यद्यपि उनके इस प्रयोग मे रुचि, अभ्यास और कथा-विकास के कारण बहुत अन्तर पड़ गया। लेकिन ऐतिहासिक नाटकों ने इन्होने पुरानी रूढ़ियो को तोड़ना प्रारम्भ कर दिया। सज्जन ने सर्वप्रथम नान्दी आता है और उसके उपरान्त सूत्रधार अपनी स्त्री से नाट्या-भिनय का प्रस्ताव करता है और नाटक प्रारम्भ होता है। इसका प्रकृति वर्णन भी सस्कृत नाटको के सदृश हुआ है और इन वर्णनों मे नीति या व्यवहार के किसी तत्त्व-निरूपण करने की चेष्टा की गई है। नाटक का अन्त भरतवाक्य मे होता है। सज्जन के बाद नाटको से प्रस्तावना का अभाव है। नाटक का प्रथम दृश्य ही विगत घटनाओ की सूचना देने का कार्य करता है। परन्तु भरतवाक्य के ढग का एक पद्य प्रसाद के कई नाटको मे मिलता रहता है। अपने तीन महान् ऐतिहासिक नाटक-काल मे ही वे सस्कृत के इस नियम की अवहेलना कर सके हैं। विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, करुणालय और राज्यश्री का अन्त भरतवाक्य मे ही होता है। एक घूँट मे यद्यपि नाटककार ने भरतवाक्य का रूप त्याग दिया है, परन्तु इसके अन्तिम पद्य से भरत-वाक्य का संकेत है। बाद के नाटको के कथनोपकथन मे पद्य की कमी होती गई है। विशाख और अजातशत्रु मे भी पद्यो का बाहुल्य है; परन्तु चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त मे सारा वार्तालाप गद्य ने होता है।

सस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमो के इन उल्लंघन के साथ ही साथ हम इनमे कुछ पश्चिमीय प्रभाव भी देखने लगते हैं। यह प्रभाव संस्कृतशास्त्र के वर्जित दृश्यों के उपयोग मे अधिक दिखाई पड़ता है। जनमेजय के नागयज्ञ मे जरत्कारु की मृत्यु और बाद मे हवनकुंड मे

नागों की आहुति ऐसे प्रसंग हैं। प्रायश्चित्त में जयचन्द आत्म-हत्या करता है और अजातशत्रु में श्यामा की हत्या का प्रयत्न किया जाता है। स्कन्दगुप्त में तो हत्याओं की संख्या अधिक बढ़ जाती है और चन्द्रगुप्त में भी कई चरित्र आत्म-हत्या कर डालते हैं। अजातशत्रु स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नाटकों में कारुण्य की तीव्रता शेक्सपियर की की ट्रेजेडीज़ के सदृश ही दिखाई पड़ती है।

प्रसाद की नाट्य-कला के मूल तत्त्व

देश-प्रेम

प्रसाद जी का अजातशत्रु नाटक महायुद्ध के अन्तिम काल में लिखा गया था। चन्द्रगुप्त उसके बाद की कृति है और स्कन्दगुप्त १९२८ में प्रकाशित हुआ। इस काल में भारतवर्ष में ही नहीं, सारे संसार में भयानक आँधियाँ उठती रहीं; जिनकी शांति के लिए नये-नये आदर्शों की कल्पना की गई; भारतेन्दु काल से ही भारतवर्ष में देशभक्ति की एक नई भावना जाग्रत हो गई थी। परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते न होते इस भावना ने एक दूसरा ही रूप धारण कर लिया। भारतेन्दु काल में अँग्रेजी सत्ता में विश्वास था, पश्चिमी सभ्यता के नये प्रकाश में आकर्षण था। परन्तु बंगाल-विभाजन के पश्चात् देश में जो स्वदेशी और स्वराज्य की लहर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैली उसमें पश्चिमी सभ्यता की प्रतिक्रियात्मक रूप से भारत में अपनत्त्व की चेतना जाग्रत होने लगी। भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्श, भारतीय शिक्षा-प्रणाली की तुलना पश्चिमी आदर्शों से की जाने लगी और इस तुलना में भारतीयता अधिक गौरवशाली ज्ञात पड़ने लगी। इसी प्रभाव के कारण ही श्रद्धानंद जी ने राष्ट्रीय पाठशाला खोली जो बाद में शांतिनिकेतन के नाम से विख्यात हुई। इसी आदर्श को सामने रखते हुए १९१६ में कर्वे महोदय ने स्त्रियों के लिए भी एक भारतीय विश्वविद्यालय खोला।

बीसवीं शताब्दी की इस राष्ट्रीय भावना से यहाँ का साहित्य अछूता न बचा। साहित्य के महारथियों ने एक ओर तो आधुनिक भारत की दयनीय दशा की ओर संकेत किया और दूसरी ओर प्राचीन भारत के गौरव चित्र अंकित किये। प्रेमचद ने पहला कार्य लिया और प्रसाद जी ने दूसरा। प्रसाद जी के साथ देने वाले कविवर मैथिलीशरण गुप्त भी हैं। जिनका भारतभारती—

हम कौन हैं, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी

की भावना लेकर चला था, इसमे भारत के अतीत और वर्तमान दोनों पर प्रकाश डाला गया था। लेकिन बाद मे साकेत, यशोधरा, द्वापर और जयद्रथवध अतीत भारत के ही सुन्दर चित्र हैं।

प्रसाद जी ने जो कार्य अपने हाथ में लिया, उसमें वे पूर्ण रूप से सफल हुए है। भारत के इतने अधिक गौरवपूर्ण चित्र उन्होंने अपने नाटकों मे भर दिये हैं कि हमारे सामने काल अपना अंचल हटाकर हमारे अतीत की झाँकी उपस्थित कर देता है। हम अपने भारतीय महान् विभूतियों के आदर्शों से, उनकी वीरता से, उनकी कार्यक्षमता से विस्मित हो उठते हैं। देश-प्रेम की एक अलौकिक धारा हमारे हृदय मे बहने लगती है और हम कार्नीलिया के साथ ही गाने लगते हैं—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

भारत का प्राचीन गौरव हमे स्फूर्ति मे भर देता है। हम सोचने लगते हैं। "हम भी तो वीर-पुत्र हैं, हम भी तो आर्य सन्तान हैं फिर क्यों न स्वतंत्रता के पुण्य पथ पर आगे बढ चलें।" राष्ट्रीय भावना से भरा हुआ उत्साह और नवीन जीवन प्रदान करता हुआ प्रसाद जी का यह गीत कितनासुन्दर है—

हिमाद्रि तुङ्ग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभासमुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती॥

अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो बढ़े चलो॥
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाहसी।
सपूत मातृभूमि के रुको न वीर साहसी॥
अराति सैन्य सिन्धु में सुवाड़वाग्नि से जलो।
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो बढ़े चलो॥

प्रसाद जी का देश-प्रेम नाटक के केवल गीतों तक ही सीमित नहीं है। उनकी नाट्यकला पर इस देश-प्रेम का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय आदर्श स्थापित करने में वे जितने सफल हुए हैं उतना हिन्दी संसार में कोई अन्य नहीं। चरित्र-चित्रण पर इसकी गहरी छाप है। देवकी, देवसेना, अलका, वासवी—नारियों के नहीं—भारतीय देवियों के चित्र हैं: जहाँ पारिवारिक सुख के लिए, समाज की शांति के लिए और देश की उन्नति के लिए कठोर से कठोर बलिदान भी फूल से कोमल रहते हैं। गौतम, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, स्कन्द, बन्धुवर्मा भारतीय महान् विभूतियों के चित्र हैं जिन्होंने भारत के संघर्षकाल में, जब भारतीय सत्ता को विनाश काल ही दिख रहा था, भारत की बागडोर अपने हाथ में ले भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्शों का पुनरुत्थान किया। आधुनिक अवनत भारत में उनका ही उदाहरण सहायक हो सकता है। स्कन्द और चन्द्रगुप्त को जिन भीषण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था क्या वे आधुनिक भारत की परिस्थितियों से भिन्न हैं? देश में अन्तर्विद्रोह है, विदेशियों से वह आपद्ग्रस्त है। तब प्रसाद की कृतियाँ क्या आधुनिक आंदोलनों का चित्र नहीं हैं? क्या उनमें वही देश-प्रेम की पुकार नहीं है? नाटककार ने विशाख की भूमिका लिखते हुए इस बात को स्वीकार भी किया है। "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"

इसी कारण ही प्रसाद जी का देश-प्रेम ही उनके कथानक का मुख्य अंग है। भारत का जो कुछ अपना था वह मुसलमानी आक्रमणों के बहुत पहले ही लोप हो चुका था। सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद भारत का अवनति काल प्रारम्भ होता है। अतएव भारत-गौरव-गुणगान के लिए सम्राट् हर्ष के पूर्व का ही भारत उपयुक्त था। "इसके लिए उसने महाभारत-युद्ध के बाद से लेकर हर्षवर्धन के राज्य-काल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है। क्योंकि यही भारतीय संस्कृति की उन्नति और प्रसार का स्वर्णयुग कहा जाता है। जनमेजय परीक्षित से आरभ होकर यह स्वर्णयुग हर्षवर्धन तक आया है। बीच में बौद्धकाल, मौर्य्य और गुप्तकाल ऐसे हैं जिनमें आर्य संस्कृति अपने उच्चतम उत्कर्ष पर पहुँची है। अतएव तत्कालीन उत्कर्षापकर्ष के यथा विभाग के अभिप्राय से लेखक ने कुछ विशिष्ट प्रतिनिधियों को चुनकर उनके कुलशील और जीवन-वृत्त के द्वारा उस रसोद्बोधन की चेष्टा की है जो वर्तमान को जीवित रखने में सहायता कर सके।[१] इसी से प्रसाद जी ने अपने नाटकों के कथानक पूर्व युगों से लिए हैं। करुणालय में वैदिककाल की घटना है। जनमेजय का नागयज्ञ पुराणों की वस्तु है अजातशत्रु बौद्धकाल के आरंभ की, चन्द्रगुप्त मौर्यकाल के आरंभ की और स्कन्दगुप्त गुप्तकाल के अन्तिम समय की वस्तु है। राज्यश्री का कथानक हर्षकाल का है। आधुनिक युग की समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से प्रसाद जी ने उपर्युक्त कालों की केवल उस सामग्री को बटोरा है, जो हलचल पूर्ण थी। जहाँ भारत का गौरव विलीन होने की समस्या आ रही थी। स्कन्दगुप्त ने डगमगाते गुप्त-साम्राज्य के पोत को पार लगाने का भार अपने ऊपर लिया था; चन्द्रगुप्त ने विलासी नंद से मगध को बचाकर भारत का

---

[१] डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन पृष्ठ २५९।

मस्तक ऊपर उठाया था और जिसकी स्वयं सिकंदर महान् को प्रशंसा करनी पड़ी थी।

नाट्य-रचना में इस देश-प्रेम की भावना का अधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय-गौरव चित्रण करने के लिए प्रसाद जी ने दृश्य के दृश्य रच डाले हैं। विदेशियों द्वारा भारत वर्णन तो इनके प्रायः सभी नाटकों में मिलता है। राज्यश्री में चीनी सुएनच्वांग भारतीय दान देखकर अवाक् रह जाता है।

हर्ष—(सब मणिरत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है। राज्यश्री से) दो बहिन एक वस्त्र (राज्यश्री देती है।) क्यों मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न? मैं आज सब से अलग हो रहा हूँ। यदि कोई शत्रु मेरा प्राण दान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ।

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्धन की जय"

सुएन०—यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

स्कन्द में धातुसेन और चन्द्रगुप्त में सिकंदर महान् और कार्नीलिया भी इस देश को एक कल्पना-लोक ही समझते हैं।

प्रसाद जी की इस प्रवृत्ति के कारण नाटक में कुछ दोष भी आ गये हैं। उनके ऐतिहासिक चरित्र कुछ अस्वभाविक से मालूम होते हैं। विशेषकर सिकंदर और कार्नीलिया। यूनानी जाति बड़ी देश-भक्त थी इस कारण भारत गुणगान में अपने देश का गौरव भूल जाना उनके स्वभाव के प्रतिकूल मालूम होता है। चन्द्रगुप्त की कार्नीलिया तो भारतीयता में इतनी अतिरंजित हो गई कि वह अपने पिता की भी उपेक्षा करने लगती है। राय महोदय की हेलेन भी अपने पिता की उपेक्षा करती है, परन्तु उसकी उपेक्षा का मूल भारतीयता न थी मानवता थी और इस रूप में हेलेन का चरित्र कार्नीलिया के चरित्र से अधिक ऐतिहासिक और अधिक आदर्शमान् है।

देश-प्रेम के कारण प्रसाद जी के नाटकों में शिथिलता भी आ गई है। जहाँ जहाँ भी भारत के गौरव चित्रण करने का मौका नाटककार को मिला है वहीं-वहीं उसने लम्बे दृश्य उपस्थित कर दिये हैं। जो दृश्य नाटक के कथा-प्रवाह में भी सहायक नहीं हैं वे भी नाटकों में ठूँस दिये गये हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में यह भूल अधिक है। सिकंदर महान् का दार्शनिक दाण्डायन से मिलना नाटक की कथा-वस्तु से बहुत अधिक संबंध नहीं रखता। लेकिन इस मिलन ने भारत की प्रतिष्ठा सारे संसार में स्थापित कर दी थी। स्वयं सिकंदर जिस दार्शनिक के पास नंगे पैर गया था वह दार्शनिक कितना बड़ा न होगा? भारत के इतिहास में यह मिलन स्वर्णाक्षरों से लिखा जाने वाला पृष्ठ है। इसीलिए प्रसाद जी ने पूरा एक दृश्य अपने नाटक में रख दिया। द्विजेन्द्रलाल राय अपने नाटक में अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित थे, उनके लिए देश-प्रेम संकुचित प्रेम न था। वह देश-प्रेम संसार-प्रेम में एक सीढ़ी मात्र था इसी कारण उन्होंने अपने नाटक में इस महान् घटना का उल्लेख मात्र किया है।

प्रसाद जी का देश-प्रेम संकुचित भावनापूर्ण है। वे अपने देश के सामने दूसरे देश की प्रशंसा नहीं सुन सकते। इसी कारण राय बाबू के और प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक में बहुत अन्तर हो गया है। जो हम आगे चन्द्रगुप्त की समीक्षा करते हुए देखेंगे। लेकिन यहाँ संक्षेप में यह कहना अनुचित न होगा कि इस संकुचित राष्ट्रीय प्रेम के कारण चन्द्रगुप्त का कथानक शिथिल हो गया है। साथ ही कुछ ऐतिहासिक चरित्रों पर कुठाराघात हुआ है। चन्द्रगुप्त के सामने प्रसाद जी का इतिहास-प्रसिद्ध सिकंदर-महान् एक लुटेरे की तरह मालूम पड़ता है। स्कन्दगुप्त और अजातशत्रु इस दोष से बच गये हैं, परन्तु उनके पात्रों में जो अलौकिक क्षमता है, सहनशीलता है, शत्रुओं को क्षमा करने की अद्भुत शक्ति है, वह भारतीय आदर्श के भले ही अनुकूल हो परन्तु इन गुणों का अत्यधिक प्रदर्शन कुछ अस्वाभाविक अवश्य मालूम होता है।

इतिहास-प्रेम

प्रसाद जी की नाट्यशैली का दूसरा तत्त्व उनकी ऐतिहासिकता है। साहित्य के सब अंगो की सेवा करते हुए भी प्रसाद जी का अध्ययन कितना गंभीर था यह उनके ऐतिहासिक अन्वेषणो से मालूम होता है, लेकिन उनका ऐतिहासिक ज्ञान नाटको की लम्बी चौड़ी शुष्क भूमिका तक ही सीमित न था। अपनी खोजों का अपने नाटको मे उन्होने पूर्ण समाहार किया है। अतीत की टूटी लड़ियों को एकत्रित करने का जो कार्य प्रसाद जी ने किया है वह सराहनीय है। यौवन की मस्ती मे मस्त इस नाटककार ने अपनी कल्पना और भावगरिमा से इतिहास के रूखे पृष्ठो मे जीवन डाल दिया है। वे अतीत के चित्र हमारे सामने नाचने लगते हैं। **"इतिहास के खण्डहरों में भी इसी मस्ती से रमने वाला यह कवि इस दृष्टि से भावना और विज्ञान के समन्वय की प्रतिमा बनकर साहित्य जगत मे उपस्थित है।"**[1]

'कामना' और एक घूँट को छोड़कर प्रसाद के सभी नाटक ऐतिहासिक आधार पर निर्मित हैं। उनके उद्देश्य से—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यत लाभदायक होता है...क्योकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नही इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।[2] अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त मे प्रसाद जी हमारे सामने ऐतिहासिक नाटककार के रूप मे ही आते हैं परन्तु उनका यह इतिहास प्रेम साहित्य की दृष्टि से कही कहीं अहितकर हुआ है। यदि वे इतिहासकार के रूप मे न आकर हमारे सामने कलाकार के रूप मे आये होते तो सभव था कि नाटको का रूप बहुत कुछ

---

[1] सुमन जी—'कवि प्रसाद की काव्य साधना', पृष्ठ १६

[2] विशाख की भूमिका

बदला हुआ होता। तथा नाटको की शिथिलता भी कम हो जाती। उन्हें इतिहास का इतना अधिक ज्ञान था कि वे अपनी कल्पना को स्वतंत्र गति से नही उड़ा सके। सम-कालीन वातावरण उपस्थित करने के लिए तथा नवीन खोजो को नाटक मे सम्मिलित करने के लिए उन्हे भूमिका के साथ ही साथ नाटकों मे कुछ निरर्थक दृश्य भी बढ़ाना पड़े हैं।

वस्तु संकलन मे भी इसका प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ अजातशत्रु ही लीजिये बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थो मे १६ राष्ट्रों का उल्लेख है जिनका वर्णन "भौगोलिक क्रम के अनुसार न होकर जातीयता के अनुसार है। उनके नाम हैं, अङ्ग, मगध, काशी वृजि आदि अपनी-अपनी स्वतंत्र कुलीनता और आचार रखनेवाले इन राष्ट्रों मे, कितनों ही मे गण-तंत्र-शासन प्रणाली भी प्रचलित थी—निसर्ग नियमानुसार एकता. राजनीति के कारण नही किन्तु एक धार्मिक क्रान्ति मे होने वाली थी... और इसी धार्मिक क्रान्ति ने भारत के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को परस्पर सधि-विग्रह करने के लिए बाध्य किया।"[1] इस प्रकार एक राज्य की घटना दूसरे से सबद्ध हो गई। इसी कारण ही प्रसाद जी को बौद्धकलीन अजातशत्रु के कथानक मे तीन राज्यों की घटनाओ का सगठन करना पड़ा है। साहित्य की दृष्टि से कौशल, कौशाम्बी और मगध के कथानक मूल कथानक से सम्बन्ध रखते हुए भी स्वतत्र से मालूम होते हैं। प्रसाद जी के इतिहास प्रेम के कारण नाटक के मुख्य सिद्धान्त कार्यसकलन (Unity of action) पर आघात पहुँचता है। कितना सुन्दर होता यदि प्रसाद जी इतिहास को एक किनारे रख साहित्य के सिद्धान्त को अपना कर मूल कथानक को लेकर ही चलते। इससे कथानक का प्रवाह ठीक रूप मे चलता और पात्रों की सख्या कम हो जाने से उनका चित्रण भी ठीक हो जाता।

---

[1] अजातशत्रु की भूमिका

बौद्ध-काल के उत्तरार्द्ध में माण्डलिक शासनों का अन्त हो रहा था और उनका स्थान गुप्त साम्राज्य ग्रहण कर रहा था। चाणक्य के अर्थशास्त्र में यद्यपि हम सात माण्डलिक राज्यों का वर्णन पाते हैं, परन्तु इन मण्डलों के सभापति राजा की पदवी से सम्मानित थे। परिस्थितियाँ भिन्न हो रही थीं। छोटे छोटे राज्य सिकन्दर द्वारा कुचल दिए गए थे। अतएव बड़े-बड़े राज्यों की प्रतिष्ठा होना प्रारभ हो गया था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसी कारण से साम्राज्यवाद पर अधिक जोर देता है। छोटे-छोटे राज्यों को हस्तगत करने और उन्हें एक ही सूत्र में पिरो देने का कार्य चन्द्रगुप्त मौर्य्य का था। चन्द्रगुप्त नाटक में इस काल की घटनाओं को एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है। इस कारण नाटककार हमें मगध से लेकर तक्षशिला और मालव तक ले जाता है। इतिहास की इस महान् पृष्ठिभूमि को चन्द्रगुप्त नाटक में बन्द करने के प्रयत्न में नाटककार कार्य-संकलन के सिद्धान्त को ठुकरा देता है। भिन्न-भिन्न राज्यों की घटनाओं और चरित्रों की संख्या बढ़ जाने से नाटक पर आघात पहुँचने लगता है। यदि नाटक के प्रथम तीन अंक अलग कर दिये जायें और उनका नाम "सिकंदर का भारतीय आक्रमण" रख दिया जाय तो कोई अनौचित्य न होगा। अजातशत्रु के समान इस इतिहास प्रेम का प्रभाव नाटक के चरित्रों पर भी पड़ा है। नाटक की इतनी बड़ी पृष्ठ-भूमि के चित्रण करने में नाटककार को इतिहास-प्रसिद्ध पोरस और सिकन्दर के समान दो विभूतियों का चित्रण करना पड़ा है। लेकिन इतिहास हमें जो इन दो वीरों की निर्भीकता और सौजन्यता का चित्र देता है, वह हमें चन्द्रगुप्त नाटक में नहीं मिल पाता। क्योंकि पोरस का वह इतिहास प्रसिद्ध प्रशंसनीय उत्तर चन्द्रगुप्त के गुणों को नीचे दबा देता। सिकन्दर की सहृदयता और उसकी वीरता की तुला पर चन्द्रगुप्त का शौर्य हलका मालूम होता। अतएव साहित्य ने इतिहास पर भी कुठाराघात किया। पोरस का वार्तालाप संक्षिप्त कर दिया गया और उसका रूप बहुत

कुछ बदल दिया गया ।

इन सामान पृष्ठभूमि के [illegible] करने के कारण, [illegible] भी कम हो गया है । चन्द्रगुप्त का स्थान चाणक्य बहुत [illegible] है जिससे अजातशत्रु के समान चन्द्रगुप्त के नायकत्व का प्रश्न उठने लगता है । व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाने से भी इन व्यक्तियों के विकास और चरित्र-चित्रण में भी कमी आ गई है ।

स्कन्दगुप्त नाटक इन दोषों से बच गया है । क्योंकि यद्यपि इसमें दो राज्यों की घटनाओं का उल्लेख है फिर भी मालव की घटनाएँ मगध की घटनाओं के अन्तर्गत ही हैं । मालव मगध के साम्राज्य का एक भाग था । अतएव सम्राट स्कन्दगुप्त के सामने बन्धुवर्मा का आदर्श नहीं टिकता । साथ ही मगध और मालव को एकसूत्र में बाँधने का कार्य स्कन्दगुप्त का ही है । जिसके कारण स्कन्द के नायकत्व का प्रश्न नही उठने पाता । इस नाटक में ऐसा कोई भी दृश्य नहीं जो केवल इतिहास-प्रेम की ही दृष्टि से लिखा गया हो ।

इस प्रकार प्रसाद जी की नाट्यकला का रूप सँवारने में इतिहास का मुख्य हाथ है । परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रसाद जी नाटकों मे इतिहास लेखक ही रहे हैं कलाकार नहीं । उन्होंने अपनी कल्पना से कई घटनाओं वा पात्रो मे अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया है जो हम आगे चल कर देखेंगे ।

काव्य

प्रसाद जी की नाट्यशैली का तीसरा अंग उनकी काव्यशैली है । पहले कवि और बाद मे नाटककार होने के नाते यदि उनके पात्र अधिकतर कल्पना का सहारा लेकर बातचीत करे तो कुछ सन्देह नहीं । परन्तु उनके नाटकों की भाषा पूर्ण रूप से भावना-प्रधान समझना भूल होगी । कई ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रसाद जी के चरित्र साधारण बातचीत ही करते हैं । प्रसाद जी के कथनोपकथन की समीक्षा करते हुए हम

देखेंगे कि उनकी भाषा एक सी नहीं है। चरित्रों के अनुकूल उसमें विभिन्नता है। यह अवश्य है कि प्रसाद जी के चरित्र अन्य नाटककारों के चरित्रों की अपेक्षा साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न कुछ परिष्कृत भाषा, कल्पना तथा अलंकारों का अधिक आश्रय लेते हैं, लेकिन प्रसाद जी की रुचि एक तो उनके विषयानुसार है, दूसरे इस भाषा पर राय बाबू का अधिक प्रभाव है। भावावेश में ही उनकी भाषा कल्पना और अलंकारों का उपयोग अधिक करती है। यौवन में पदार्पण करते हुए सौंदर्य का पुजारी मातृगुप्त अपने प्रेम की प्रथम असफलता की भावाभिव्यक्ति में कवि ही बन जाता है।

"अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था। भ्रमर वंशी बजा रहा था सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सबेरे सूर्य्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, संध्या में शीतल चाँदनी, उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौंदर्य, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं—वहीं स्वप्न टूट गया!...

"उस हिमालय के ऊपर प्रभात सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का पीले पोखराज का-सा एक महल था। उसीसे नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रक्खे। कल्पना की भाषा के पङ्ख गिर जाते हैं, मौन नीड़ में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र।"

परन्तु ऐसी भाषा का उपयोग सभी स्थलों पर नहीं हुआ। हाँ, यह अवश्य है कि कभी साधारण स्थलों पर जहाँ मनोवेगों के चित्रण करने का स्थान भी न था वहाँ भी प्रसाद जी अलंकृत भाषा का उपयोग करते हैं।

"भगवान की शांत वाणी की धारा प्रलय की नरकाग्नि को

भी बुझा देगी।"

"हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया। मल्लिका! तुम्हे मैने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्धरात्रि मे आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप मे आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कंठ की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हे सम्हालकर उतारने के लिए नक्षत्र-लोक को गई थीं......" (अजातशत्रु अंक १, दृश्य ८)

"मुझे अभी प्रतिशोध लेना है, दावाग्नि-सा बढ़कर फैलना है, उसमे चाहे सुकुमार तृण कुसुम हों अथवा विशाल शाल वृक्ष! दावाग्नि या अंधड़ छोटे-छोटे फूलों को बचाकर नही चलेगा।"

(अजातशत्रु अंक २, दृश्य ८)

"आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही। उत्तरापथ के खण्डराज द्वेष से जर्जर है। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।"

(चन्द्रगुप्त अंक १, दृश्य १)

"एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्य्यावर्त के लौह अस्त्रागार मे घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजय-माला हाथ मे लिए उस सुन्दर नील लोहित प्रलय जलद मे विचरण करेगी और वीर हृदय मयूर से नाचेंगे।"

(चन्द्रगुप्त अंक १, दृश्य १)

"मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर, और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिए निरवकाश हृदयवाला हो जावेगा, नही जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिए सोच क्यों, अज्ञात भविष्य के लिए भय क्यों, और वर्तमान को मै अपने अनुकूल बना ही लूँगा; फिर चिन्ता किस बात की?"

लेकिन ऐसी भाषा की प्रसाद जी को कार्य-निर्वाह के लिए अत्यंत आवश्यकता थी। हमारे वर्तमान भारत से भिन्न वे एक स्वर्ण युग का चित्रण कर रहे थे। इस कारण उसे चित्रित करने के लिए कल्पना के रंग से रँगी हुई भाषा का प्रयोग करना आवश्यक था। हमें एक आदर्श भूमि का भान कराने के लिए, हमारी आधुनिक दीन परि-स्थितियों से हटाने के लिए, नित्यप्रति की भाषा की उठी हुई भाषा का प्रयोग प्रसाद जी के लिए आवश्यक था। अनेक शताब्दियों के आवरण को हटाकर, हमारे पूर्व युगों का दर्शन कराने का, हमें उस युग में पहुँचाने का श्रेय प्रसाद जी के ऐतिहासिक ज्ञान को नहीं, उनकी भाषा को है, जिसकी रसात्मकता हमें हमारे साधारण जीवन से दूर एक आदर्श जगत की ओर ले जाती है और जहाँ के पात्र हमारी साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न भाषा में वार्तालाप करते हुए हमें मिलते हैं। प्रसाद जी की नाट्यशैली में उनकी भाषा का विशेष महत्त्व है।

दार्शनिकता

प्रसाद जी के नाटकों की चौथी विशेषता उनकी गंभीरता है जो नाटककार के उद्देश्य, प्रकृति और विषय से जनित है। इसी गंभीरता के कारण प्रसाद जी के नाटकों में हास्य का अभाव है। स्कन्दगुप्त के मुद्गल और मातृगुप्त के वार्तालाप में वे अवश्य कुछ सफल हुए हैं। अन्य नाटकों में भी उन्होंने संस्कृत नाटकों के समान विदूषक रखे हैं पर ब्राह्मणों का पेटूपन आधुनिक रुचि के अनुकूल नहीं। नाटकों की गंभीरता करुण रस के प्राधान्य के कारण है। ये नाटक सुखान्त नहीं कहे जा सकते। ये वास्तव में "ट्रेजी कामेडी"—करुण-सुखान्त नाटक हैं और इस रूप में वे संस्कृत नाटकों के अधिक अनुरूप हैं। अजातशत्रु, बिम्बसार और वासवी की करुण कथा है; जहाँ समाज में विशृंखलता आ रही है; स्त्रियाँ अपनी स्थिति छोड़ स्वावलम्बी होना चाहती हैं,

पुत्र पिता के विरुद्ध खड़ा होना चाहता है। ऐसे अवसर पर यदि विम्बसार गम्भीर हो "आकाश के नीलपन पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे हुए अदृष्ट के लेख" पढ़ने लगे तो स्वाभाविक ही है। स्कन्दगुप्त नायक की आपत्तियों का चिट्ठा है। उसका अन्तिम दृश्य तो करुण रस पूर्ण ही है। स्कन्द की सफलता क्या सुखान्त है ? अन्तिम दृश्य में सफलता के सौध मे भी वह अपने को अकेला पाता है।

"देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह !"

देवसेना का वैराग्य उसकी असफलता के ही कारण है। स्कन्दगुप्त नाटक यदि ट्रेजडी नही कही जा सकती तो वह कामेडी भी नहीं है। चन्द्रगुप्त नाटक में भी करुण रस की मात्रा अधिक है। संस्कृत नाटकों के आदर्शानुसार, नाटक को सुखान्त करने के लिए नाटककार ने इस असफलता मे भी एक नैसर्गिक सफलता अपने पात्रों को दिखाई है। भैतिक सुखो के अभाव को वैराग्य की शान्ति पूरी करती है जिसके कारण नाटक की सारी कथावस्तु मे गभीरता आ गई है। पात्र दार्शनिक हो उठते हैं, अन्तिम दृश्य तक उन्हे ससार के खेल-कूद, भौतिक सुख साधन, हास-उपहास से कोई सरोकार नहीं रहता। परन्तु यह दार्शनिकता पात्रों के चरित्र-विकास के कारण है। पात्र प्रारम्भ से ही दार्शनिक नहीं रहते, और न नाटक ही दार्शनिक कहा जा सकता है।

बहुधा प्रसाद जी के चरित्रों पर एक बाह्य दार्शनिकता का आरोप किया जाता है। अपने आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास मे प्रसाद जी की आलोचना करते हुए पंडित कृष्णशंकर शुक्ल जी लिखते है,

"इनके पात्रो मे दोहरा व्यक्तित्व रहता है। वे अपना भी व्यक्तित्व रखते हैं और अपने रचयिता के आदेशानुसार एक कृत्रिम व्यक्तित्व भी ढोते रहते हैं। पर सौभाग्य से इन दोनों व्यक्तित्वो का पृथक्करण सरलता से किया जा सकता है। यदि हम पात्रों के कृत्रिम व्यक्तित्व को हटा दे तो उनका निजी सजीव

व्यक्तित्व स्पष्ट देख सकते हैं। कृत्रिम आरोपित व्यक्तित्व तीन बातों से जाना जा सकता है। प्रसाद जी नियतिवादी हैं। इसका प्रभाव इनके अनेक पात्रों पर पड़ा है। कोई ऐसा नाटक नहीं है जिसमें इसकी दोहाई न दी गई हो। नागयज्ञ में जरतकारु ऋषि तथा वेदव्यास इत्यादि अदृष्ट की लिपि की घोषणा करते हैं। जनमेजय भी 'मनुष्य क्या है? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास—या उसकी क्रीड़ा का उपकरण' कहता है। स्कन्दगुप्त में उसका नायक भी कुछ ऐसे ही विचार रखता है। चेतना कहती है कि 'तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता कि तू खिलौना है।' चन्द्रगुप्त में भी अनेक पात्र नियति का झंडा फहराते हुए आते हैं। चाणक्य ऐसा कर्मवीर भी उसके प्रभाव से नहीं बचा है। उसे भी हम ऐसा कहते हुए सुनते हैं। 'नियति सुन्दरी के भवों में बल पड़ने लगा है' परन्तु हम इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि यह नियतिवाद पात्रों की अपनी विशेषता नहीं है। नियति-नियति चिल्लाते हुए भी वे हाथ पर हाथ रखे नहीं बैठे रहते, जीवन के घमासान युद्ध में उतरते हैं और ऐसे-ऐसे काड रचते हैं कि हमें चकित रह जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में हमें यही प्रतीत होता है कि वे किसी के सिखाने से नियति का मन्त्र जप रहे थे। वास्तव में उन्हें कर्म की सामर्थ्य पर अचल विश्वास था।"

प्रसाद जी अदृष्टवादी अवश्य थे। जीवन की परिस्थितियों ने उनका विश्वास नियति में करा दिया था। जब हमारी परिस्थितियाँ हमारी शक्ति के बाहर रहती हैं और हम उन्हें अपने अनुकूल नहीं बना पाते तभी हम अदृष्ट पर विश्वास करने लगते हैं। प्रसाद जी को भयानक जीवन-संग्राम करना पड़ा था और इस कारण अपनी ही अनुभूति को लेकर यदि प्रसाद जी के चरित्र जीवन-संघर्ष में असफल हो अदृष्ट में विश्वास करें तो यह कृत्रिम व्यक्तित्व नहीं। यह तो एक

मनोवैज्ञानिक परिस्थिति ही समझी जावेगी । साधारण मनुष्य जब अपनी सासारिक कठिनाइयों मे असफल हो अदृष्ट और नियति की पुकार मचाने लगते हैं, तब हम उन पर दार्शनिकता का आरोप नहीं करते। प्रसाद जी के नाटकों को इस रूप मे दार्शनिक नाटक समझना भूल है। यह अवश्य है कि उनके कुछ निज के विचार हैं परन्तु प्रत्येक कलाकार का कुछ न कुछ उद्देश्य रहा करता है—उसके कुछ न कुछ जीवन के सिद्धान्त रहा करते हैं—जिन्हे हम कलाकार के दार्शनिक सिद्धान्त कह सकते हैं। परन्तु उनके नाटकों और पात्रों को दार्शनिक कहना भूल है।

कृष्णशंकर जी से मिलते हुए कुछ कुछ विचार प्रोफेसर सत्येन्द्र जी के भी हैं। 'प्रसाद जी के नाटक' नामक लेख मे वे लिखते हैं—

"प्रसाद जी के इन सभी नाटकों मे एक विशेषता मिलती है, वह विदग्ध व्यग्रता है। सभी पात्रों मे एक उत्तेजना व्याप्त है, एक हलचल है और व्याकुलता है—ठीक भीड़ से भरे बाजार मे उनके पात्र बिना इधर-उधर देखे हड़बड़ी मे धक्का-मुक्की से अपना मार्ग बनाते चलते से और उस सबके लिए अपना कारण और अपनी व्याख्या रखते से चलते हैं। इसलिए उनमे दार्शनिकता भी है। कवि ने झूठ या सच इसी 'विदग्ध व्यग्रता' मे अन्तर्द्वन्द्व मानकर सभवत: सन्तोष किया है।"[1]

सचमुच यदि प्रसाद जी के पात्र 'बिना इधर-उधर देखे हड़बड़ी मे धक्का-मुक्की से' अपना मार्ग बनाते चलते हो तो उनके नाटक पागलो का अजायबघर ही समझा जाना चाहिए, और पात्रो की दार्शनिकता उनकी व्यक्तिगत सनक। प्रसाद जी के बारे मे यह आलोचना बड़ी कड़ी है। वास्तव मे पात्रो की उत्तेजना घटना के घात-प्रतिघात के कारण ही है। पात्र घटनाओं को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु अदृष्ट सभी कुछ पात्रों की इच्छानुसार नहीं होने देता, इस

[1] 'प्रसादजी की कला', पृष्ठ ३२-३३

कारण घटनाओं का विकास और पात्रों की कार्यपटुता कहीं-कहीं मेल नहीं खाती। परन्तु यह घटना और पात्रों का संघर्ष आवश्यक है, उसी पर दर्शकों का मनोरंजन और उत्सुकता निर्भर रहती है। लेकिन इस संघर्ष का अन्त भी होना चाहिए, नहीं तो नाटक की समाप्ति ही न होगी। प्रसाद जी के पात्र इसी कारण नियति के साथ ही साथ अपने कर्म में भी विश्वास रखते हैं। उनकी विदग्ध व्यग्रता उनकी क्रियात्मकता के फलस्वरूप है। यह पात्रो की अपनी निजी विशेषता नहीं। इस विदग्ध व्यग्रता को ही पात्रों मे अन्तर्द्वंद्व का कारण समझना भी भूल है। पात्रों का अन्तर्द्वंद्व जैसा हम नाटकों की आलोचना करते समय देखेंगे उनके चरित्र की दुर्बलताओं के कारण है।

चरित्र-चित्रण

भारतीय नाट्यकला के अनुरूप इनके नाटको के नायक सभी उच्चकुलीन राजवश के हैं। द्विजेन्द्रलाल राय ने चन्द्रगुप्त को नीच जाति का जन्मा हुआ मानकर भी नाटक का नायक बनाया है, लेकिन प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय मानकर ही उसे नायक के पद पर आसीन किया है। नायक नाटक मे अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वंद्व दोनों का सामना करता है और अन्त मे दोनों से सफल भी हो जाता है। अजातशत्रु मे अन्तर्द्वंद्व नहीं है, परन्तु नायक के चरित्र की प्रारम्भिक दुर्बलता (क्रूरता) बाह्य घटनाओं से प्रभावित हो विलीन हो जाती है। बाह्य-द्वंद्व मे भी नायक सफल होकर मगध का राजा बनता है और प्रसेनजित की कन्या से विवाह कर कोशल से मैत्री स्थापित करता है। स्कन्दगुप्त और चाणाक्य भी अपने अन्तर्द्वंद्व और बहिर्द्वंद्व पर विजयी होते हैं। नायक की यह दोनो प्रकार की विजय नाटककार के अनुसार आवश्यक है।

इन नायको के प्रतिद्वंद्वी भी रहा करते हैं, परन्तु ये प्रतिद्वंद्वी प्रायः राजनैतिक क्षेत्र के ही हैं प्रेम वा शृङ्गार के नहीं। प्रतिद्वंद्वी की मान-

सिक वेदना ही उसका कठोर दण्ड है। क्योंकि ये प्रतिद्वंद्वी केवल खल ही नहीं चारित्रयुक्त भी हैं और इस कारण अपनी भूल समझने पर उनका पछतावा स्वाभाविक ही है नाटक के अन्त में वे नायक द्वारा क्षमा कर दिये जाते हैं। कहीं-कहीं प्रतिद्वंद्वियों की संख्या अधिक बढ़ जाती है जैसे अजातशत्रु में।

स्त्री पात्रों के निर्माण में प्रसाद जी विशेष कुशल हैं। इन चरित्रों के गठन में वे पुरुष चरित्रों की अपेक्षा अधिक सफल भी हुए हैं। उनकी प्रारम्भ ही से रुचि नारी के सौंदर्य और प्रेम की ओर रही है, इसी कारण वे देवसेना के समान सुन्दर चित्र अङ्कित करने में सफल हुए हैं। देवसेना तो नारी की कोमल भावनाओं की मूर्ति है। उसके रूप में सौंदर्य, संगीत, काव्य, प्रकृति और त्याग वा बलिदान साकार होकर ही बोलने लगा है। हृदय की कोमल कल्पना की यह प्रतिमा हिन्दी साहित्य की ही नहीं, संसार के साहित्य की अनोखी भेंट है। वासवी और देवकी नारियों के नहीं देवियों के चित्र हैं। उनके आदर्श के सामने उनका कोई भी पुरुष पात्र नहीं ठहर पाता। नारियों के चरित्र में विविधता भी है। यौवन की मदिरा से प्रमत्त सुवासिनी, महत्वाकांक्षी की पुजारिन विजया, त्याग की मूर्ति देवसेना और मल्लिका कुशल नाटककार के चित्रित पात्र हैं। क्रूरता, स्वावलम्बी और स्वार्थ नारियों के चित्र में अनन्तदेवी, मागन्धी और छलना भी हैं, जिनकी पाशविक वृत्तियों से हमारे हृदय पर आघात लगने लगता है, लेकिन उनका आकस्मिक किन्तु स्वाभाविक परिवर्तन हमें नारी जाति की कोमलता और स्निग्धता की ओर ही ले जाती है। प्रसाद जी नारी जाति को सम्मान की दृष्टि से ही देखते रहे हैं। अतएव वे शेक्सपियर की लेडी मेकवेथ के समान चरित्रों के निर्माण में सदैव ही असमर्थ रहते।

उनके आदर्शानुसार नारी जाति समाज की सुदृढ़ नींव है। वह अपने प्रेम द्वारा स्वर्ग का सृजन कर सकती है। उसके "राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और

कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप।"

(अजातशत्रु, पृष्ठ १५४)

हृदय की सम्पूर्ण कोमल भावनाओं का मंदिर नारी का हृदय है क्रूरता स्त्री जाति का गुण नहीं। "उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा।" अनंतदेवी, छलना और मागन्धी ने अपनी नारी-सुलभ कोमलता और स्निग्धता को छोड़ क्रूर बनने की चेष्टा की थी; फल गृह-विद्रोह, समाज-विद्रोह और देश-विद्रोह ही हुए।

पुरुष पात्रों में त्याग की जो भावना प्रसाद जी ने रखी है, वही भावना हमें स्त्री पात्रों में मिलती है। परन्तु यह त्याग एक नवीन रूप लेता है। पद्मावती, वासवी, देवसेना, मालविका का त्याग विरक्ति के फलस्वरूप नहीं है यह प्रायः स्त्री-सुलभ सौंदर्य और समवेदना की प्रसूति है; "यथार्थ में, स्त्रियों में त्याग की अपेक्षा सेवावृत्ति और अनुकम्पा पर अधिक जोर दिया है। उनका त्याग अधिकतर इन्हीं गुणों से उत्पन्न होता है, पुरुष की भाँति विरक्ति से कम। जहाँ विरक्ति दिखाई गई है वहाँ स्त्री या तो महत्त्वाभिलाषिणी है या पतिता, जिसे अपने जीवन भर निराशाओं और असफलता से मुठभेड़ करते-करते अन्त में विराग होने लगता है।"[1]

धार्मिक जनों और भिक्षुओं के चरित्र भी ऐतिहासिक होते हुए सुन्दर बन पड़े हैं। गौतम जैसे धर्मावलम्बियों के साथ ही साथ प्रचंड बुद्धि, देवव्रत आदि जैसे ढकोसले फैलाने वाले भिक्षुओं के चरित्रों को देख, प्रसाद जी की अनूठी कल्पना और चरित्र-निर्माण शक्ति पर

---

[1] शिलीमुख—'प्रसाद की नाट्य-कला', पृष्ठ ६७

आश्चर्य मालूम होता है। चरित्र-चित्रण के बारे में हम ऊपर भी बहुत कुछ कह आये हैं और नाटकों की आलोचना करते समय भी कुछ चरित्रों को देखेंगे, अतएव यहाँ पर केवल इतना ही कह देना उचित होगा कि चरित्रों और घटनाओं का बाहुल्य होने के कारण नाटकों के प्रमुख चरित्रों में न तो परिस्थितियों के अनुसार विकास ही हुआ है और न उनमें अन्तर्द्वंद्व ही है। अधिकतर चरित्र एकांगी ही हैं।

कथोपकथन

बहुरुपता

कथोपकथन का व्यवहारानुकूल, भावव्यंजक, संघर्षमय और चुस्त होना आवश्यक है। इस विषय में प्रसाद जी बहुत कुशल हैं। उनके पात्रों का वार्तालाप बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक हुआ है। वाणी ही मनुष्य चरित्र की द्योतक है। क्रूरता और शीलता मनुष्य के मुख से ही मालूम होती है।

"छलना—यह सब जिन्हें खाने को नहीं मिलता उन्हें चाहिए। जो प्रभु है, जिन्हें पर्याप्त है उन्हें किसी की क्या चिन्ता जो व्यर्थ अपनी आत्मा दबावें।

वासवी—क्या तुम मेरा भी अपमान किया चाहती हो? पद्मा तो जैसी मेरी, वैसी ही तुम्हारी, उसे कहने का तुम्हें अधिकार है; किन्तु तुम तो मुझसे छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखा कर बच्चों की क्यों हानि कर रही हो?

छलना—(स्वगत)—मैं छोटी हूँ यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं है! (प्रकट)—मैं छोटी हूँ या बड़ी, किन्तु राजमाता हूँ। अजात को शिक्षा देने का मुझे अधिकार है। उसे राजा होना है! वह भिखमंगों का जो अकर्मण्य होकर राज्य छोड़ कर दरिद्र हो गये है उपदेश नही ग्रहण करने पावेगा।"

(अजातशत्रु, पृष्ठ २३-२४)

मनोवैज्ञानिक होते हुए भी कथोपकथन कितना संघर्षमय है। संघर्षमय वार्तालाप ही नाटक के प्राण हैं वही कार्य व्यापार को प्रसारित करता है। कार्य-संचालन कराने का नाटककार के पास यही एक साधन है। वार्तालाप पर चरित्र-चित्रण भी निर्भर रहता है, परन्तु सदैव ही वार्तालाप संघर्षमय होना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मणों और साधुओं के वार्तालाप कितने सरल उपदेशात्मक और लम्बे हो गये हैं ; क्योंकि स्वभावानुकूल उन्हें नीति और कर्तव्य ज्ञान कराने के लिए विषय की विस्तृत व्याख्या करनी पड़ती है। संघर्षमय न होने के कारण ऐसे वार्तालाप कथानक नहीं बढ़ा पाते इस कारण वे कभी-कभी अरुचिकर होने लगते हैं। अच्छा हो कि ऐसे वार्तालाप छोटे ही हो। करुणा के ऊपर गौतम की व्याख्या कुछ अरुचिकर अवश्य मालूम होती है परन्तु है वह स्वाभाविक। प्रसाद जी ने पात्रों के अनुसार ही उनका वार्तालाप रखा है। दार्शनिक का वार्तालाप उसकी प्रवृत्ति के अनुसार ही है—जो अपने विचारों मे अधिक लवलीन रहता है उसे संसार की प्रत्यक्ष घटनाओं का ध्यान ही क्या।

"दाण्डायन—पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता, सिंधु की जलधारा बही जा रही है, बादलों के नीचे पक्षियों का झुंड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खींचे चले जा रहे हैं। जैसे काल अनेक रूप में चल रहा है। यही तो......

एनि०—महात्मन् !

दाण्डायन—चुप रहो, सब चले जा रहे है, तुम भी चले जाओ। अवकाश नहीं अवसर नहीं।

एनि०—आपसे कुछ . ...

दाण्डा०—मुझसे कुछ मत कहो। कहो तो अपने आप ही कहो, जिसे आवश्यकता होगी सुन लेगा। देखते हो, कोई किसी की सुनता है। मैं कहता हूँ—सिंधु के एक बिन्दु ! धारा में न बहकर मेरी बात सुनने के लिए ठहर जा, वह सुनता है ? ठहरता

है ? कदापि नहीं।"

कथनोपकथन की भाषा रस-संचार में भी सहायक होती है। चरित्रों के मनोवेगों द्वारा उसका रूप आप से आप बदलता रहता है। यौवन के पदार्पण काल में प्रेम का प्रथम कटु अनुभव मातृगुप्त को कवि बना देता है, "अमृत के सरोवर में स्वर्ण कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, सन्ध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौंदर्य, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढाया था वहीं-वहीं स्वप्न टूट गया।" परन्तु कर्तव्य के कठोर पथ में उसके शब्द सरल कल्पनाहीन और वाक्य छोटे हो जाते हैं।

क्रोध का कितना सुन्दर चित्रण वार्तालाप द्वारा हुआ है—

"रक्त के पिपासु ! क्रूरकर्म्मा मनुष्य ? कृतघ्नता की कीच का कीड़ा। नर्क की दुर्गन्ध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी।"

पागलपन का भी चित्र देख लीजिए—

"रामा—लुटेरा है तू भी ! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ ? तेरे दातों से टूटेगी ? देख तो—(हाथ बढाती है)।

स्कन्द०—कौन ? रामा !

रामा—(आश्चर्य से) मै रामा हूँ। हाँ, जिसकी सन्तान को हूणों ने पीस डाला......"

दुःख से पागल हुए शकटार को भी सुन लीजिए—

"दुख ! दुःख का नाम सुना होगा, या कल्पित आशका से उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होंगे। देखा है कभी, सात-सात गोद के लालों को भूख से तड़प कर मरते ? अन्धकार की घनी चादर में बरसों भूगर्भ की जीवित समाधि में एक दूसरे को अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते देखा है। प्रतिहिंसा की स्मृति को,

ठोकरें मारकर जगाते-जगाते, और प्राण विसर्जन करते ? देखा है कभी यह कष्ट ! इन सबों ने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी मैं पत्थर-सा जीवित रहा ! उनका आहार खा डाला, उन्हें मरने दिया......।"

मनोवेगानुसार पात्रों की भाषा में यह परिवर्तन होना अधिक आवश्यक है। अतएव प्रसाद जी की भाषा के विषय में यह धारणा कि उसमें अनेकरूपता नहीं बड़ी भूल है। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होंने संस्कृत की तत्सम पदावली को छोड़ अन्य भाषा का उपयोग नहीं किया। पर लेखक की यह असमर्थता उसकी कला के अनुरूप ही है प्रतिकूल नहीं। प्रसाद जी के नाटक भव्य भारत के चित्र हैं जो हमारे आज के दीन-हीन, परतंत्र, असहाय भारत से भिन्न हमारे उत्कर्ष के सुन्दर चित्र हैं। जो हमारे लिए एक आदर्श, एक कल्पना, एक स्वर्गीय आनंद का लोक बन गया है। इस लोक को दीप्तमान रंगों द्वारा ही अंकित किया जा सकता है। सामान्य बोलचाल की भाषा उसे हमारे नित्यप्रति के जीवन से ऊपर न उठा सकेगी अतएव उस नैसर्गिक जगत का निर्माण बहुत कुछ प्रसाद जी के भाषा-सौष्ठव और कोमलकान्त पदावली द्वारा हुआ है। इन पूर्व युगों के अंकन करने की सफलता बहुत कुछ उनकी भाषा पर है।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं प्रसाद जी ने अपने इस संकुचित क्षेत्र में भी भाषा की अनेकरूपता रखी है। जिसके कारण वार्तालाप बहुत ही स्वाभाविक हुआ है। प्रोफेसर सत्येन्द्र जी ने अपने लेख में प्रसाद जी की भाषा पर नोट लिखते हुए कहा है कि इनके "सभी पात्र एक-सी भाषा बोलते हैं, ग्रीक, चीनी शक, हूण, उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी, सब उनके रंगमंच पर आकर एकभाषी हो जाते हैं।" नाटककार हिन्दी में नाटक लिख रहा है। उसके लिए अभारतीय भाषा का प्रयोग करना आवश्यक नहीं, कोई भी पाठक व दर्शक इन भाषाओं को कैसे समझ सकता है ? यह तो नाट्यकला के मूल सिद्धान्तों में से

एक है। यदि नाटककार को पूर्ण स्वाभाविकता वा ऐतिहासिकता रखनी होती तो अच्छा होता वह तत्कालीन संस्कृत, पालि, अपभ्रंश आदि का उपयोग करता, परन्तु उसका यह कार्य कला के प्रारम्भिक सिद्धान्तों के विपरीत हो जाता। नाटककार हिन्दी में नाटक लिख रहा है। वह भाषा-विज्ञान का प्रदर्शन नहीं कर रहा है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने प्रान्तीय बोलियों का उपयोग नहीं किया। परन्तु इसका कारण हम ऊपर ही लिख आये हैं।

पद्य का प्रयोग

प्रसाद जी के कथनोपकथन मे खटकने वाला एक दोष है और वह है पात्रो का गद्य मे बात करते-करते पद्य मे बोलने लगना। पूर्व नाटकों मे यह प्रवृत्ति अधिक है। परन्तु पारसीक नाटक कम्पनियों की भाँति तुकड़बाजी और शेरबाजी इनके उत्तर नाटकों मे नहीं मिलती। प्रारम्भिक नाटको मे प्रसाद जी संस्कृत नाटकों से प्रभावित थे साथ ही उस समय के नाटककारों मे भी यह प्रवृत्ति अधिक थी। बंगाली नाटकों के अनुवादों ने इस गद्य-पद्य के मिश्रण मे सुधार कर दिया। भारतेन्दु जी के नाटकों मे स्फुट कविताएँ अधिक हैं। राधेश्याम जी कथावाचक, माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण भट्ट के नाटकों मे भी गद्य-पद्य का मेल अधिक है। प्रसाद जी की प्रतिभा इस गद्य-पद्य के कम प्रयोग मे ही है। उनके परवर्ती वा समकालीन नाटकों के देखने से तो उनकी शेरबाजी प्रायः नहीं के बराबर ही मालूम होती है। प्रसाद जी ने अपने पद्यों के उपयोग मे थोड़ा परिष्कार भी कर दिया है। पद्य का प्रयोग पात्रों ने साधारण बातचीत या घटना वर्णन के लिए नहीं किया है। उनका उपयोग प्रायः सूक्तियों के ही रूप मे है। अजातशत्रु मे वासवी कहती है—

> "यह मैं क्या देख रही हूँ। छलना यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है ? राजपरिवार मे क्या सुख अपेक्षित नहीं है ?

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बड़ा उनके मन में,
कुल लक्ष्मी हों मुदित, अरु हो मंगल उनके जीवन में।
बन्धु वर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर,
शांतिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ?"

समुद्रगुप्त को भेजती हुई श्यामा कहती है—

"श्यामा—जाओ बलि के बकरे जाओ, फिर कभी न आना। मेरा शैलेन्द्र, मेरा शैलेन्द्र—

तुम्हारी मोहनी छवि हर निछावर प्राण हैं मेरे,
अखिल भूलोक बलिहारी मधुर मृदुहास पर तेरे।"

अथवा "तो इससे क्या ! हम अपना कर्तव्य पालन करते हैं, दुःख से विचलित तो होते नहीं।

लोभ सुख का नहीं, न तो डर है,
प्राण कर्तव्य पर निछावर है।"

ये पद्य की पक्तियाँ एक प्रकार से लोक-प्रसिद्ध उक्तियाँ ही मालूम होती हैं। ऐसे अवसर हमारे जीवन में भी आते हैं। जब हम कभी-कभी किसी दोहे आदि का प्रयोग अपनी बातचीत मे कर देते हैं। पद्य का सम्बन्ध पात्रों के वार्तालाप से है अवश्य, लेकिन परोक्ष रूप मे। अन्य स्थलो पर भी जहाँ नाटककार ने ऐसे पद्यों का उपयोग किया है वहाँ इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि पद्य की पंक्तियाँ पात्रों की स्वयं की रचना न मालूम हो जो वह गद्य की बात को पूरा करने के लिए उसी अवसर पर रचता जा रहा हो। गौतम का यह कथन साधुओ के कितने स्वभावानुकूल हुआ है। परन्तु ये गौतम की आशु-कवियो के समान तत्कालीन रचना नहीं मालूम होती।

"राजन् ! कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता। विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है।

गोधूली की राग पटल में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मन पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से यह ओस बूँद भर लाती है॥"

ये पक्तियाँ या तो पूर्व-रचित मालूम होती हैं। या अन्य कवि की रचना जिनका उपयोग वे अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए करते हैं।

उदयन और मागन्धी के वार्तालाप से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जावेगी।

"उदयन — हृदयेश्वरी ! कौन मुझ को तुम से अलग कर सकता है
हमारे वक्ष में बनकर हृदय जब छवि समावेगी,
स्वयं निज माधुरी छवि का रसीला गान गावेगी।
अलग तब चेतना ही विश्व में कुछ रह न जावेगी,
अकेले विश्व-मंदिर में तुम्हीं को पूज पावेगी।"

ये पद्य भाग उदयन के हृदय के भावों का उतना अच्छा चित्रण नहीं करता जितना किसी छायावादी कवि के हृदय को। उदयन का मागन्धी के लिए—

"अलग तब चेतना ही विश्व में कुछ रह न जावेगी,
अकेले विश्व-मंदिर में तुम्ही को पूज पावेगी।"

कहना कुछ हास्यप्रद मालूम होता है। यह तो किसी भक्त की वाणी मालूम होती है जो अपने अस्तित्व को परमात्मा में मिलाकर इस विश्व मंदिर में उसी एक परमात्मा की छवि की आराधना में लगना चाहती है। उदयन का यह कथन उसी समय ही स्वाभाविक हो सकता है जब हम इन पक्तियों को किसी अन्य कवि की रचनाएँ समझें जिनका उपयोग उसने अपने भावों की समानता समझाने के लिए ही किया हो। ठीक यही मत श्यामा के इस कथन के बारे में भी है—

"श्यामा—ओह ! विष ! सिर घूम रहा है। मैं बहुत पी चुकी हूँ अब······जल······भयानक स्वप्न। क्या तुम मुझे जलवे

हुए हलाहल की मात्रा पिला दोगे ।

अमृत हो जायगा विष भी पिला दो हाथ से अपने,
पलक ये छक चुके हैं चेतना उसमें लगी कँपने ।
विकल हैं इन्द्रियाँ—हाँ देखते इस रूप के सपने;
जगत् विस्मृत हृदय पुलकित, लगा वह नाम है जपने

इस प्रकार यह गद्य-पद्य का प्रयोग कही भी अस्वाभाविक वा हास्यप्रद नही होने पाया है। उन्होने कही भी अन्य नाटककारो की भाँति पद्य का प्रयोग साधारण बातचीत को व्यक्त करने के लिए नही किया। ऊपर के उदाहरणों से कितने भिन्न हैं।

(१) चन्द्र०—रणधीर, यह क्या है—तुम आर्य हो फिर भी तुम्हारी इसकी ऐसी मित्रता !

रणधीर०—महाराज, क्या कहूँ मित्रता, है दैवी बरदान
है अपूर्व आल्हाददायिनी यथा स्वर्ग का गान।

\+ \+ \+

(२) अलक०—महाराज, शोक है कि कोई उत्तर देने वाला न था और (क्रोध से)

कभी मिला तो उसके तन का खड-खंड कर उत्तर दूँगा।
और क्या कहूँ? शठ यवनो से रण प्रचंड कर उत्तर दूँगा।

(३) सिपाही—श्रीमान की जय ! कप्तान रणधीर सिंह
विक्रम+रण दुर्मद रणधीर ! वीर तुम धन्य हो
शत्रु हृदय के तीर ! वीर तुम धन्य हो।
(देखता हुआ) क्या ? बुरी तरह घायल हुआ है ?

एक सिपाही—मान्यवर !

छाती मे नौ घाव, खड्ग के खाने वाले
सब शरीर विंध गया न पीठ दिखाने वाले
कटी जाँघ, बेकाम हो गया बाँया कर भी
लड़ गये, लेकिन इतने घायल होकर भी।

हाँ, रिपु की हँसी करता हुआ, जब रक्त बहुत निकल गया
तब हो अचेत गिरे—अहो मुँह वीरता का फुट गया ।

स्वगत

नाटककार के लिए हृदय के भावो को प्रगट करने के लिए स्वगत का उपयोग बहुत ही आवश्यक हो जाता है। परन्तु स्वगत का उपयोग कुछ अस्वाभाविक-सा मालूम होता है। दूर बैठे हुए दर्शक तो पात्रो का स्वगत सुन लेते हैं, परन्तु रंगमंच पर खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुनने पाता। अतएव सफल नाटककार ऐसे अवसरों को अपने नाटको मे कम ही लाते हैं। राय महोदय ने अपने नूरजहाँ नाटक मे स्वगत का प्रयोग बिलकुल ही नहीं किया है। चूँकि उनके लिए नूरजहाँ मे एक ओर स्वामिभक्ति और दूसरी ओर सम्राज्ञी होने की लालसा के सघर्ष का चित्रण करने के लिए स्वगत का उपयोग अनिवार्य था। परन्तु अस्वाभाविकता के डर से उन्होंने अपने कौशल द्वारा यह द्वंद्व दूसरे रूप मे प्रगट कर दिया है। स्वगत का उपयोग प्राचीन नाटको मे भी किया जाता था। पूर्व और पश्चिम नाट्यशास्त्र इसे Poetic license मानते हैं, परन्तु नाटककार का कौशल इसी से है कि वह इसका बहुत ही कम उपयोग करे। प्रसाद जी के प्रारम्भिक नाटको मे स्वगत का उचित उपयोग नही हुआ है। कुछ स्थानों पर तो नाटककार थोड़े ही कौशल से स्वगत हटा सकता था।
यथा—

"छलना—(स्वगत)—मै छोटी हूँ। यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं है। (प्रकट) मै छोटी हूँ या बड़ी किन्तु राजमाता हूँ। स्वगत की बात छलना स्पष्ट भी कह सकती थी। क्योंकि यह बात प्रकट कथन से किसी प्रकार कम कटु नही है। दूसरे स्थान पर भी—

जीवक—(स्वगत) यह विदूषक इस समय कहाँ से आ गया। भगवान्, किसी तरह हटे।

यदि लेखक चाहता तो इस कथन को वार्तालाप मे ही रख सकता था। इसी प्रकार—

"प्रसेन—(स्वगत) अभी से इसका गर्व तोड़ देना चाहिए" की आवश्यकता न थी। प्रसेन के प्रकट कथन से कि "आज से यह निर्भीक किन्तु अशिष्ट बालक अपने युवराज पद से वंचित किया गया ......"स्वगत का काम चल सकता है। लेखक यदि चाहता तो इन स्वगत कथनो को या तो बिलकुल ही हटा सकता था या उनमे कुछ परिवर्तन कर उन्हें अधिक स्वाभाविक बना सकता था। परन्तु मालूम होता है कि नाटककार ने उन्हे कवि की स्वच्छन्दता समझकर इनकी अस्वाभाविकता की ओर ध्यान नहीं दिया।

कभी-कभी नाटकों मे, अपने भावों को व्यक्त करने के लिए या पिछली वा आगे आनेवाली घटना के सूचनार्थ एक-दूसरे प्रकार के स्वगत का उपयोग किया जाता है। इसमे पात्र स्वगत मे ही बोलता है, परन्तु दूसरे पात्रो के सम्मुख नहीं। स्वाभाविकता की दृष्टि से यह भी एक दोप है। क्योंकि यह पात्रो का चिन्तन न होकर बड़बड़ाना हो जाता है। संघर्षात्मक न होने के कारण ऐसे कथन जितने ही छोटे हों उतने ही अच्छे। बिंबसार का अकेले बैठे-बैठे बड़बडाना दर्शकों को बहुत ही खराब मालूम होगा। अच्छा होता यदि बिंबसार का यह कथन—"आह जीवन की क्षणभंगुरता..... " आदि संक्षिप्त कर दिया गया होता। स्कन्द का स्वगत "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है......" संक्षिप्त होने के कारण उतना नही खटकता। वाजरा का भी स्वगत बहुत लम्बा है। यदि इस स्वगत को नाटककार ने देवसेना और विजया की बातचीत के समान दो सखियों के वार्तालाप मे करा दिया होता तो दर्शको और पाठकों दोनो की दृष्टि से दृश्य अधिक मनोरंजक हो जाता और अस्वाभाविकता भी न रहती। अजातशत्रु का नाटककार अभी अपनी कला मे परिपक्व नही हुआ है। बाद के नाटकों मे ये दोप कम मिलते हैं।

संगीत

नाटक की रचना कथोपकथन संगीत और नृत्य पर ही निर्भर है। गीत रंगमञ्च पर मनोरंजक के सबसे सुन्दर साधन हैं। उनकी स्थानीय उपयुक्तता और भावप्रदर्शन नाटक के दृश्यों को और भी अधिक तीव्र बना देते हैं। प्रसादजी के नाटकों में बहुत ही सुन्दर गीत भरे पड़े हैं। कल्पना भावुकता और रसात्मकता में ये गीत शेक्सपियर के गीतों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि शेक्सपियर इसी पार्थिव संसार के दृश्यों को लेकर ही गीत-रचना करता है। भावावेश में वह कल्पना जगत में विचरण करते हुए भी इस संसार को नहीं छोड़ता। उनमें एक प्रकार की ग्रामीणता है। परन्तु प्रसाद जी के गीत भौतिक जगत से प्रारंभ होकर "क्षितिज के उस पार" अनजान जगत में पहुँचते हैं। हमारी आत्मा प्रकृति और मानव के बोधगम्य भाव और सौंदर्यानुभूति से धीरे-धीरे उठकर अनन्त शून्य में मिलती है। उदयन के तिरस्कार से दुखी पद्मा जब वीणा बजाने बैठती है और प्रयास करने पर भी जब उसमें से स्वर नहीं निकलते तो उसकी भावना करुण रूप लेकर एक मधुर गीत के रूप में निकल पड़ती है।

> मीड़ मत खिंचे बीन के तार।
> निर्दय अंगुली! अरी ठहर जा,
> पल भर अनुकम्पा से भर जा,
> यह मूर्छित मूर्छना आह सी,
> निकलेगी निस्सार।

गाते-गाते भावविभोर होकर पद्मावती की करुणाता परदे के उस पार ही पहुँच जाती है—

> "नृत्य करेगी नग्न विकलता
> परदे के उस पार"

इस रहस्यवाद ने उनके गीतों को सार्वभौमिक रंगों में रँग दिया है—वे केवल मानवी जगत के करुण गीत नहीं हैं उनमें केवल प्रेमी से बिछुड़ने

का दुख नहीं है, उनमे है असीम के प्रति ससीम की पुकार—परमात्मा के लिए आत्मा की लालसा। परन्तु प्रसाद जी के सभी गीत रहस्यवादी नहीं हैं; उनके बहुत से गीत स्थूल जगत के प्रेम और सौंदर्य से संबंध रखते हैं।

प्रसाद जी के गीत विषय के अनुसार मुख्यतः दो भागो मे बाँटे जा सकते हैं—(१) रहस्यवादी तथा रहस्यवाद की झलक लिए हुए, (२) अन्य—

(१) पूर्ण रहस्यवादी गीत

(अ) आओ हिये मे अहो! प्राण प्यारे।

(अजातशत्रु)

(आ) भरा नैनों मे मन में रूप
किसी छलिया का अमल अनूप।

(स्कन्दगुप्त)

(इ) बहुत छिपाया उफन पडा अब सम्हालने का समय नहीं है॥

... ...

जली दीप-मालिका प्राण की हृदय कुटी स्वच्छ हो गई है॥
पलक पाँवड़े बिछा चुकी हूँ न दूसरा और भय नहीं है॥
चपल निकल कर कहाँ चले अब इसे कुचल दो मृदुल चरण से॥
कि आह निकले दबे हृदय से भला कहो यह विजय नहीं है॥

(२) रहस्यवाद की झलक मात्र लिये हुए

(अ) सखी यह प्रेममयी रजनी।

(आ) सुधा सीकर से नहला दो।

(इ) ओ मेरे जीवन की स्मृति, ओ अन्तर के आतुर अनुराग

(३) अन्य

(अ) शृंगार वा प्रेम—

इन गीतों मे प्रसाद जी संगीत, सौंदर्य-वासना और रूप-चित्रण मे कवि कीट्स से भी आगे बढ़ गये हैं।

(१) अली ने क्यों अवहेला की ।
(२) प्यारे निर्मोही होकर......
(३) हमारे जीवन का उल्लास ।
(४) न छेड़ना उस अतीत स्मृति के
खिंचे हुए बीन तार कोकिल ।
(५) घने प्रेम तरु तले ।
(६) संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना
वह उच्छृंखलता थी अपनी कहकर मन मत बहलाना ।
(७) शून्य गगन में ढूंढता जैसे चन्द्र निराश
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश
(८) भावनिधि से लहरियाँ उठती कभी
भूल कर भी स्मरण हो जाता कभी ।
(९) अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से
मादकता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से ।
(१०) उमड़ कर चली भिगोने आज
तुम्हारा निश्चल अचल छोर ।
(११) आह वेदना मिली बिदाई ।
(१२) तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिपकर चलते हो क्यों ।
(१३) प्रथम यौवन मदिरा के मत्त, प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय चीन्हने की न तनिक थी चाह
(१४) आज इस यौवन के माधवी कुंज में
कोकिल बोल रहा है ।
(१५) कैसी कड़ी रूप की ज्वाला ।
(१६) बज रही वंशी आठो याम की ।
(१७) बिखरी किरन अलक व्याकुल हो, निरस वदन पर
चिंता लेख ।

(आ) प्रकृति

(१) चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का।

(२) अलका की किस विकल विरहिणी के पलकों का ले अवलंब।

(३) चल बसंत बाला अंचल से किस घातक सौरभ से मस्त

(इ) प्रार्थना

(१) दाता सुमति दीजिये।

(२) स्वजन दीखता न विश्व में अब।

(३) उतारोगे अब कब भू भार।

(ई) नीति और व्यवहार

(१) न धरो कह कर इसको अपना
यह दो दिन का है सपना।

(२) स्वर्ग है नहीं दूसरा और।

(३) सब जीवन बीता जाता है धूप-छाँह के खेल सदृश्य।

(४) पालना बने प्रलय की लहरें।

(उ) देशभक्ति

(१) अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को, मिलता एक सहारा।

(२) हिमालय के आँगन में, उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार।

प्रसाद जी के गीतों की नाटकीय उपयोगिता में क्रमशः विकास होता गया है। प्रारम्भ की रचनाओं में गीत अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। वे स्थान, पात्र और समयानुकूल नहीं हैं। अधिकतर वे कवि की स्वतंत्र रचनाएँ ही मालूम होती हैं जो उसने बाद में नाटक में रख दी हैं। यह दोष एक ओर तो गीतों में रहस्यवाद की झलक के कारण मालूम होता है, दूसरी ओर पात्रों के वार्तालाप को बलात् ही गीतों से संबंधित करने के प्रयत्न में। दूसरे प्रकार के दोष का एक उदाहरण

अजातशत्रु के आठवे दृश्य मे है जहाँ श्यामा अपना परिचय देती है। यह परिचय गीत एक स्वतंत्र रचना-सी मालूम होती है जिसे रखने के लिए ही मालूम होता है शैलेन्द्र श्यामा से पूछता है, "तुम क्या हो सुन्दरी ?" और श्यामा गीत गाकर परिचय देती है। एक और दूसरा गीत विरुद्धक का जलद के प्रति है। इसमे सन्देह नहीं कि विरुद्धक का निर्मूल विश्वास कि मल्लिका उससे प्रेम करती है उसकी प्रारंभिक भावाव्यक्ति के अनुकूल है।

"आर्द्र हृदय में करुण कल्पना के समान आकाश में कादम्बिनी घिरी आ रही है। पवन के उन्मत्त आलिङ्गन से तरुराजि सिहर उठती है। झुलसी हुई कामनाएँ मन में अंकुरित हो रही हैं। क्यों ? जलदागमन से ? आह !

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब" आदि केवल नील नीरद की ओर ही सकेत करती है।

अजातशत्रु के कुछ गीत बहुत सुन्दर है, वे परिस्थिति, पात्र और समय का ध्यान रखकर लिखे गये हैं। मागन्धी का "स्वजन दीखता न विश्व में अब न बात मन में समाय कोई" वाला गीत स्वतंत्र होते हुए भी मागन्धी की आन्तरिक परिस्थिति के अनुकूल ही है। सचमुच से मागन्धी का कोई स्वजन न रह गया था। वास्तविक परिस्थिति के परिवर्तन की इच्छा उसे इतनी विषमता मे ले आई थी। मल्लिका के संसर्ग मे उसे प्रथम बार ही करुणा का ज्ञान हुआ और उसी समय से वह अनन्त की ओर निहारने लगी थी।

क्षणिक वेदना अनंत सुख बस समझ लिया शून्य में बसेरा
पवन पकड़ कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई।

परन्तु अजातशत्रु मे सबसे सुन्दर गीत रानी पद्मावती का है। मानसिक वेदना से निकली हुई उच्छ्वास धीरे-धीरे इस संसार को अपनी वेदना से तरंगित कर "परदे के उस पार" पहुँच जाती है। उदयन के तिरस्कार से दुखी होकर जब वह वीणा भी नहीं बजा पाती

तो मानों उसकी असमर्थता ही व्यक्त होकर गीत के रूप में निकल पड़ती है "मीड़ मत खिंचे बीन के तार"। असमर्थता का दुःख और भी तीव्र हो जाता है। पीड़ा की कसक और भी विकट हो पड़ती है।

निर्दय अंगुली अरी ठहर जा,
पल भर अनुकम्पा से भर जा।
यह मूर्छित मूर्छना आह सी
निकलेगी निस्सार।

पद्मा के भावो, उसकी मानसिक वेदना और असमर्थता को गीत द्वारा जितने सुन्दर रूप में व्यक्त किया गया है वह अद्वितीय है।

चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त मे गीतों की रचना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। भावों की कोमलता और शब्दो की मधुरता जब ध्वनि की सुकुमारता, कल्पना की नवीनता और छन्दों की बहुरूपता से मिलती है तो गीत सर्वांग सुन्दर हो उठते हैं। चित्र, काव्य और संगीत मानो अपनी सत्ता भूलकर एक हो जाते हैं। उनकी नाटकीय उपयोगिता भी अधिक हो जाती है। नाटक की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण और साथ ही पात्रो की भावनाओ से वे ऐसे सम्बद्ध हो गये हैं कि वे प्रारम्भिक नाटको के गीतो को भाँति स्वतन्त्र गीत नहीं कहे जा सकते, वे पूर्ण रूप से नाटक के रूप मे ही मिल गये हैं। कथावस्तु से सम्बन्ध रखनेवाला गीत हमे चद्रन्गुप्त नाटक मे मिलता है। सुवासिनी, रूप, सौंदर्य और संगीत की रानी ने, जब गाना प्रारम्भ किया—

आज इस यौवन के माधवी कुंज मे कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बँधन खोल रहा!
बिछल रही है चाँदनी छवि मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात
कौन मधु मदिरा घोल रहा?

यौवन के इस उन्माद में, इस असंयत रस-प्रवाह में कौन न वह जाता ? यौवन की कामनाएँ अंकुरित होकर खिलना चाहती हैं, मतवाली चाँदनी रात अपने कम्पित अधरों से बहकाने की बातें कर रही है। लाज के बंधन आपसे आप खुलते जा रहे हैं। वासना के इस उठते हुए स्पष्ट स्वर को सुन कर भला नंद का हृदय कैसे स्थिर रह सकता था। उसने सुवासिनी का हाथ पकड़ लिया। राक्षस के आगमन से नन्द लज्जित हो जाता है, परन्तु यह घटना राक्षस के हृदय में नन्द के प्रति सन्देह पैदा कर देती है। यदि सुवासिनी इतना मादक गान न गाती तो सम्भव था यह घटना न होती। कथा-प्रवाह बढ़ाने में गीतों का यह प्रयोग सुन्दर हुआ है।

चरित्र-चित्रण के लिए भी प्रसाद जी ने गीतों का प्रयोग किया है। कार्नीलिया का "अरुण यह मधुमय देश हमारा" उसके भारत-प्रेम का द्योतक है। परन्तु इससे भी सुन्दर उदाहरण अलका और सिंहरण के प्रेम का है। वास्तव में इन दोनों का प्रेम **"प्रथम यौवन मदिरा से मस्त, प्रेम करने की थी परवाह, और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह"** के रूप में ही हुआ है। देवसेना के सारे गीत उसके चरित्र के एक अंग हैं। उसकी पल-पल परिवर्तित मनोभावों के चित्रों को व्यक्त करने में वे अधिक सफल हुए हैं। लड़कपन के खेल में मस्त देवसेना का यह गीत उसके यौवन-पदार्पण काल, उसके भाव और उसके स्वभाव के कितने अनुकूल हुआ है—

भरा नैनों में मन में रूप
किसी छलिया का अमल अनूप।

छंद की द्रुतता में यौवन की स्फूर्ति और उल्लास भरा हुआ है दूसरे अवसर पर विजया का चक्रपालित की ओर आकर्षित होते देखकर प्रेम में पागल देवसेना अपनी कल्पना के सुखों को समीप जानकर गा उठती है—

घने प्रेम तरु तले

पर देवसेना की कल्पना विलीन हो गई। जीवन की प्रथम असफलता

से जनित, हृदय की क्षुब्धता को व्यक्त करती हुई देवसेना कहती है—

"संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूप-दान की एक क्षीण गंध धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों के प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी जीवन! मेरे प्रिय गान! अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ? इस बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है; क्या बल है जो खींचता है? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनंत काल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।"

परन्तु हृदय की भावना जब पूर्ण व्यक्त न हुई तो मानो देवसेना गाकर अपनी व्यथा बाहर निकाल देना चाहती है—

शून्य गगन में ढूँढता जैसे चन्द्र निराश,
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।
हृदय! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझ मे,
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें।
रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास,
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस।
हृदय तू है बना जलनिधि लहरियाँ खेलती तुझमे,
मिला अब कौन सा नवरत्न जो पहले न था तुझमे।

जीवन भर की असफलता उसकी चिरवेदना हो जाती है, उसका सम्पूर्ण जीवन ही करुण हो जाता है। अन्तिम दृश्य का गीत अन्य गीतो से कितना भिन्न है, भाषा का कारुण्य और धीमी-धीमी स्वर लहरी मानो वेदना का प्रतीक ही हो उठती है। जीवन की निराशा से जनित अभाव मे भविष्य की आशा से विदा लेती हुई देवसेना कहती है—

"हृदय की कोमल कल्पना? सोजा, जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा सब से मै विदा लेती हूँ—

आह वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रमवश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल छल थे संध्या के श्रमकण,
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण.
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनंत अंगड़ाई।
अमित स्वप्न की मधुमाया से,
गहन विपिन की तरु छाया से,
पथिक उनींदी श्रुति से किसने
यह बिहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कबकी
मेरी आशा आह? बावली,
तूने खो दी सकल कमाई।
चढ कर मेरे जीवन रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी होड़? लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती,
विश्व? न संभलेगी यह मुझसे,
इसने मन की लाज गँवाई।"

एक निराश हृदय के जीवन पथ पर यह कैसी करुणा से भरी हुई यात्रा है।

प्रथम यौवन के मद से मस्त, कल्पना के पुजारी, कवि मातृगुप्त का यह गीत कितना स्वभावानुकूल हुआ है। यौवन की कामुकता गीत में

निकल पड़ी है—

> संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना
> वह उच्छृङ्खलता थी अपनी कह कर मन मत बहलाना।
> ..... आदि आदि

परिस्थितियो के घात-प्रतिघात ने ऐन्द्रिय-प्रेम को देश-प्रेम मे मोड़ दिया यौवन की उच्छृङ्खलता देश के कर्तव्य मे परिवर्तित हो गई। प्रथम अंक का कामुक कवि अपने वीर गीतो से लोगों के रक्त को खौला देता है—

> वही है रक्त वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान,
> वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान
> जियें तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष,
> निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

छंद की द्रुतता और उसी की पुनरुक्ति हृदय मे एक हलचल मचा देती है। यौवन की मादकता से निकला हुआ वासना का सुकुमार गीत कर्तव्य-पथ पर दृढ़ वीर का युद्ध-गान बन गया।

गीत की दृष्टि से चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त एक अमूल्य कोष है। लज्जा के भरे हुए यौवन का कितना सजीव चित्र चन्द्रगुप्त मे मिलता है—

> तुम कनक किरन के अन्तराल में
> लुक छिप कर चलते हो क्यों,
> नत मस्तक गर्व वहन करते,
> यौवन के घन रस कन ढरते,
> हे लाज-भरे सौंदर्य!
> बता दो मौन बने रहते हो क्यों,
> अधरों के मधुर कगारों से,
> कल कल की गुंजारों से,

मधु सरिता सी यह हँसी
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?

उद्वेलित यौवन के आग्रहपूर्ण चित्रो मे "आज इस यौवन के माधवी कुंज मे कोकिल बोल रहा" वाला गीत सब से सुन्दर है। परन्तु यहा पर हम इन गीतो की केवल नाटकीय पार्श्वभूमि मे ही देखना चाहते हैं, स्वतन्त्र गीत के रूप मे नहीं। अस्तु।

भावना और चरित्र-चित्रण मे विजया का "अगरु धूम्र की श्याम लहरियाँ" गीत भी सुन्दर बना है। यौवन विलास की आकाक्षा और उसके अपरिमित काल्पनिक सुख की ओर संकेत करती हुई विजया कहती है—

"प्रियतम, यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील नीरद मंडल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जावें और उस क्रीडा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत की आँखों को थोड़े काल के लिए बंद कर रक्खे। स्वर्ग की कल्पित अप्सराएँ और इस लोक के अनंत पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य चकित हों; वही मादक सुख, घोर आनंद, विराट विनोद; हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाय।"

यौवन के उस मादक सुख का चित्रण विजया गीत मे करने लगती है—

अगरु धूम्र की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से,
मादकता-लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से,
व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो आर्द्र हृदय घनमाला से,
आँसू वरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से।
. ...
.. ..
उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो,

अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो,
यह दुर्बलता दीनता रहे, उलझी फिर चाहे ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से, जिससे तुम भी सुख पाओ।

नेपथ्य में गाये हुए गीतों का उपयोग कार्य की भूमिका बनाने में हुआ है।

अजातशत्रु के अन्तिम दृश्य में सायकाल का दृश्य और ठंडी ठंडी हवा का चलना नेपथ्य में गाये हुए गीत,

चल बसन्त बाला अंचल से किस घातक सौरभ से मस्त,
आती मलयानिल की लहरें, जब दिनकर होता है अस्त।

द्वारा किया गया है। उसी गीत के द्वारा निर्मित पृष्ठ-भूमि पर बिम्बसार कहते हैं—"सन्ध्या का समीर ऐसा चल रहा है जैसे दिन भर का तपा हुआ उद्विग्न ससार एक शीतल निश्वास छोड़ कर अपना प्राण धारण कर रहा है······ ···।"

रामा को आश्वासन देती हुई देवकी कहती है—

"न घबड़ा रामा! एक पिशाच नहीं नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास और उनकी ज्वाला दयामय की कृपा-दृष्टि के एक बिन्दु से शान्त होती है।" इसके बाद नेपथ्य में यह गीत गाया जाता है।

पालना बने प्रलय की लहरें···

························

प्रभु का हो विश्वास सत्य तो
सुख का केतन फहरे।

गीत के पश्चात् की घटनाओ को इसी गीत से सहारा मिला हुआ मालूम होता है।

'सब जीवन बीता जाता है धूप छाँह के खेल सदृश।' गीत भी देवसेना के कथन से समानता रखता हुआ जीवन की क्षण-भंगुरता का ही चित्रण करता है। चन्द्रगुप्त में "ऐसी कड़ी रूप की ज्वाला"

नेपथ्य से गाया हुआ गीत भी राक्षस के भावानुरूप वातावरण उपस्थित करने के लिए रखा गया है।

नेपथ्य मे गाये हुए गीतो के अलावा रंगमंच के गीत भी वातावरण प्रयुक्त करने मे सहायक हुए हैं। रात्रि का वातावरण सुवासिनी ने अपने "**सखे, यह प्रेममयी रजनी**" वाले गीत से उपस्थित किया है।

रस-प्रसार की दृष्टि से वा दृश्य के अन्त को तीव्र बनाने के लिए जो गीत गाये हैं उनका नाटकीय महत्व अधिक है, उनके द्वारा दृश्य की घटनाओं का हृदय पर पड़ा हुआ प्रभाव तीव्रतर हो, चिरस्थायी हो जाता है। ऐसे गीतों मे देवसेना का "**आह वेदना मिली विदाई**" गीत बहुत ही सुन्दर है। चन्द्रगुप्त नाटक मे "**ओ मेरे जीवन कीस्मृति, ओ अन्तर के आतुर अनुराग !**" मालविका के जीवन-बलिदान का महत्व बढ़ा देता है।

अजातशत्रु

दार्शनिक पृष्ठभूमि

अजातशत्रु नाटक प्रथम बार १९२२ मे प्रकाशित हुआ; इसलिए बहुत सम्भव है कि प्रसाद जी ने नाटक का प्रारम्भ महायुद्ध के पश्चात् ही किया हो। १९१४ से १९१८ तक जो महायुद्ध यूरोप के लिए ववंडर होकर आया था, उसका प्रभाव भारतवर्ष पर भी पड़ा। १९०६ के बङ्गाल-विभाजन के वाद भारतवर्ष मे स्वराज्य और स्वदेशी का आन्दोलन चल चुका था और देश मे राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो गई थी। १९१३ के लखनऊ अधिवेशन मे मुस्लिम लीग ने भी पूर्ण स्वराज्य अपना ध्येय घोषित किया जिसके लिए उसी वर्ष के करॉंची अधिवेशन मे कॉंग्रेस के सभापति ने मुस्लिम लीग को वधाई दी थी। महायुद्ध भारत की आन्तरिक व्यवस्था के लिए भी एक संघर्ष-काल था। आशा और निराशा के द्वन्द्व का प्रारम्भ था, परन्तु महायुद्ध के वाद ही इंगलैंड से प्रधान मन्त्री, एस्क्विथ साहव, ने भारत के राज्यशासन को एक नवीन दृष्टि से देखने की घोषणा

कर दी थी। इधर १९१७ में भारत-मंत्री, मौंटेगू साहब ने भी भारत के शासन में परिवर्तन करने का वचन दिया था, अतएव भारतवर्ष पूर्ण रूप से मित्र-राष्ट्रों की ओर हो गया और युद्ध-संचालन में यथाशक्ति सहयोग देने लगा। भविष्य की आशाओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन को शिथिल कर दिया।

महायुद्ध में संयुक्त राष्ट्र के आगमन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक विचारों में एक आन्दोलन उपस्थित कर दिया। भविष्य की राजनैतिक समस्याओं को हल करने के लिए प्रेसीडेंट विलसन के १४ सिद्धान्त ही उपयुक्त समझे जाने लगे। और ये १४ सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय भावना को लेकर ही रखे गये थे। संकुचित राष्ट्रीय भावना का इनमें कोई स्थान न था। प्रेसीडेंट विलसन का आत्मनिर्णय का सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय भावना जाग्रत करने का प्रथम सोपान ही था। यह भावना पारस्परिक द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप न थी। यह राष्ट्रीय अधिकार मानव-प्रेम और आपस की सहानुभूति पर निर्भर था। इसी भावना से प्रेरित होकर ही अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पारस्परिक समझौते, सहानुभूति और कर्त्तव्य द्वारा सुलझाने के लिए राष्ट्र-संघ की योजना की गई थी। इस प्रकार संसार का पूरा राजनैतिक क्षेत्र उस काल की इस अन्तर्राष्ट्रीय भावना से प्रभावित था। भारतवर्ष की राजनीति पर भी इसका प्रभाव पड़ा और साथ ही साथ इसके साहित्य पर भी।

अजातशत्रु का कथानक इसी अन्तर्राष्ट्रीय भावना का रूपान्तर मात्र है। गौतम के विश्वमैत्री के उपदेश इस काल की समस्या सुलझाने के उपयुक्त थे। इसलिए प्रसाद जी ने एक ओर तो इस काल की राजनैतिक धाराओं से प्रभावित होकर यह विषय चुना, दूसरी ओर पथ-प्रदर्शक की भाँति उस अन्तर्राष्ट्रीय धारा को सफल बनाने में स्वयं अपने विचार भी रखे।

अजातशत्रु के कथानक की कुंजी गौतम की करुणा है और

इसी करुणा द्वारा ही विश्वमैत्री की स्थापना संभव हो सकती है। करुणा, हमारे सेवा-प्रेम और कर्तव्य की भावना व्यक्त करती है गौतम के ये शब्द उस काल की अन्तर्राष्ट्रीय भावना के कितने सुन्दर चित्र हैं—

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुःख समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे। फिर तुमको पर-दुःख-कातरता में ही आनन्द मिलेगा। विश्वमैत्री हो जायगी—विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा। उठो, असंख्य आहें तुम्हारे उद्योग से अट्टहास में परिणित हो सकती हैं।"

वासवी भी उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम-भावना का काल्पनिक सुख देखती है—

"कुटुम्ब के प्राणियों में स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवान्! क्या कभी वह भी दिन आवेगा, जब विश्व भर में एक कुटुम्ब स्थापित हो जावेगा और मानव मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी सम्हालेंगे!"

यह विश्वमैत्री मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही देखने से हो सकती है। अपने को बड़ा समझकर छोटों का निरादर करने से नहीं। शक्तिशाली द्वारा निर्बलों के त्रास में नहीं। ये तो जंगली लोगों के क्रूर विचार हैं। सब जीवों को समदृष्टि से देखने में ही, सब में एक सा स्नेह रखने से ही यह विश्वमैत्री स्थापित हो सकती है। अजातशत्रु इस उच्चादर्श से नीचे गिरा था, इसीलिए उसने क्रूर कर्म किये थे—यह बवंडर पैदा कर दिया था। इसे वह स्वयं ही मानता है—

"नहीं पिता मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जंगलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान। अपने को विश्वभर से स्वतंत्र जीव समझने का झूठा आत्म-सम्मान।"

मल्लिका ने जो पथ अपनाया था वह केवल विश्वमैत्री स्थापन के लिए ही। "मनुष्य की दया, उसका कर्त्तव्य नीच ऊँच की जाँच नहीं करता, राजकुमार! तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी।"

अजात जब पूछता है—"तब भी आपने इस अधम जीवन की रक्षा की। ऐसी क्षमा। आश्चर्य! यह देव कर्त्तव्य......

मल्लिका—नही राजकुमार यह देवता का नहीं—मनुष्य का कर्त्तव्य है। उपकार, करुणा, समवेदना, और पवित्रता मानव-हृदय के लिए ही बने है।

अजात—क्षमा हो देवि! मै जाता हूँ, अब कौशल पर आक्रमण नही करूँगा। इच्छा थी कि इसी समय इस दुर्बल राष्ट्र को हस्तगत कर लूँ। किन्तु नही अब लौट जाता हूँ।"

विश्वमैत्री स्थापन करने के गुण दैवीय गुण हैं, लेकिन वे देवताओं में नही, मनुष्यो मे होते हैं और ऐसे मनुष्य ही स्वर्ग का सृजन करते हैं।

"श्यामा—जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है। मागन्धी धिक्कार है तुझे!

स्वर्ग है नहीं दूसरा और।
सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर॥
सुधा सलिल से मानस जिसका पूरित प्रेम विभोर।
नित्य कुसुममय कल्पद्रुम की छाया है इस ओर॥"

पूरी मानवी सृष्टि करुणा के लिए है। परन्तु यह करुणा मनुष्य के हृदय मे अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे विकसित की जा सकती है। कुटुम्ब के सुख पर राष्ट्र का सुख निर्भर है, और राष्ट्र के सुख पर पूरे संसार का। कुटुम्ब के शान्त वातावरण मे पला हुआ प्रेम राष्ट्र-प्रेम में परिवर्तित हो मानवी प्रेम हो जाता है और यही अन्तर्राष्ट्रीय भावना है। वासवी इसी भावना को अजात के हृदय में जाग्रत करने के लिए

हो कौटुम्बिक सुख शान्ति चाहती है। अपने गुरुजनो की ओर कर्त्तव्य करते करते ही हमारा ध्यान समस्त मानव जाति की ओर जा सकता है। इस कौटुम्बिक शान्ति स्थापन करने में माता का ही नहीं, पूरी नारी जाति का मुख्य भाग है। क्योंकि नारी स्वभाव से ही प्रेम की प्रतिमा है, करुणा की देवी है। उसमे सहनशीलता है। जिसमे ये गुण नहीं उसका जीवन भी सुखी नही। वह बवडर होकर सारे कुटुम्ब में भयानक उत्पात मचाया करती है। छलना इन गुणों मे शून्य थी, इसीलिये उसने कुटुम्ब में—राज्य मे—यह विद्रोह खड़ा किया था। मागन्धी भी इन गुणों से शून्य थी—

"वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आई। अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख लिप्सा में ही पड़ी रही। उसी का यह परिणाम है। स्त्री सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये।"

पुरुषों मे इस स्नेह की कमी रहती है। लेकिन नारी अपने प्रभाव से—अपनी शिक्षा से—पुरुषों को भी बदल सकती है। क्रूर पुरुष भी इस विषय मे स्त्रियों का शासन चाहते हैं।

'कारायण—......मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथा शक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है, और वह स्नेह, सेवा करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय-वरद हस्त का आश्रय, मानव समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी, प्रकृति स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट करके इस दौड़ धूप में क्यों पड़ती हो देवि! तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत् का

उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहना आवरण दिया है—रमणी का रूप।"

मल्लिका भी यही कहती है—

"स्त्रियों का कर्तव्य है कि पाशव वृत्ति वाले क्रूर कर्मा पुरुषों को कोमल और करुणालुप्त करें, कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है—उस स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा।"

इसी कारण ही सम्भव है प्रसाद जी ने विश्वमैत्री के संस्थापक गौतम का भी इतना अधिक प्रभाव नाटक पर नहीं बतलाया जितना मल्लिका का। अजात, मागन्धी, विरुद्धक सभी मल्लिका से ही आदर्श ग्रहण करते हैं। गौतम से तो केवल मागन्धी को ही क्षमा मिलती है। यद्यपि इस दशा मे भी मागन्धी की ही विजय है।

इस प्रकार प्रसाद जी की दृष्टि मे विश्वमैत्री मानवीय-प्रेम, कर्तव्य और सेवा पर अवलम्बित है। जब तक मनुष्य मे इन गुणों की उद्-भावना न होगी, तब तक विश्वमैत्री असंभव ही है। और तब तक संसार मे युद्ध होते ही रहेगे। अशान्ति का साम्राज्य रहेगा। मनुष्य प्रेम के द्वारा इस संसार को स्वर्ग बना सकता है। प्रेम एक दैवी गुण है, लेकिन यह गुण कौटुम्बिक शिक्षा पर निर्भर है। जब तक मनुष्य के हृदय पर करुणा का साम्राज्य न होगा, तब तक विश्वमैत्री स्वप्नवत् ही रहेगी।

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि इस रूप मे अजातशत्रु के बहुत समीप है। अजातशत्रु शैशवावस्था की व्याख्या थी, कामायनी उत्तर काल की। कामायनी मे मानव का एकमात्र लक्ष्य आनन्दमय विश्व-चेतना की साधना है, इसमें इड़ा और कामायनी (श्रद्धा और करुणा) सहायक और प्रेरक हैं। बिना इनकी सहायता के मानव चिर-मङ्गल नहीं पा सकता। समाज-निर्माण और लोक-कल्याण इस आनन्द तक

पहुँचने की सीढ़ी मात्र है। इस उन्नति में श्रद्धा का अनिवार्य महत्त्व है। वही मानव की पथ-प्रदर्शिका है।

अजातशत्रु का कथानक करुणा की इसी नीव पर ही निर्मित हुआ है। बिना करुणा के संसार उद्भ्रान्त, जंगली और द्रोहपूर्ण रहा करता है। करुणा से ही संसार में सुख, मैत्री और शान्ति है। जिस मनुष्य में करुणा नहीं वह पशु है, क्योंकि मानवी सृष्टि करुणा के लिए है। अजातशत्रु के प्रथम अंक से ही हम करुणा के महत्त्व से भिज्ञ हो जाते हैं। करुणा और क्रूरता का संघर्ष ही नाटक का कथानक है। जहाँ क्रूरता का अन्त हो जाता है, वहीं नाटक की भी समाप्ति हो जाती है। करुणाहीन छलना और अजात, वासवी और पद्मा के विरुद्ध खड़े होते हैं। भगवान् गौतम वा वासवी के उपदेशों का उन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। द्वेष, ईर्ष्या और अभिमान में उन्मत्त होकर देवदत्त गौतम के विरुद्ध षड्यंत्र रचता है और छलना वा अजात महाराज बिम्बसार वा देवी वासवी पर नियंत्रण रखते हैं। उधर कौशाम्बी में "अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग" लेकर मागन्धी ने, उदयन के हृदय में, करुणा की मूर्ति पद्मा के विरुद्ध संदेह उत्पन्न कर दिया। कौशल में भी शील और सदाचार से शून्य विरुद्धक अपने पिता प्रसेन के विरुद्ध खड़ा होता है। और प्रसेन स्वयं अपने अभिमान में चूर हो, सन्देह के गर्त में पड़कर अपने सेनापति बन्धुल की मृत्यु के लिए षड्यंत्र रचता है। परन्तु मल्लिका की सहनशीलता, उसकी करुणा पहले प्रसेन को सत्पथ पर लाती है, इसके पश्चात् तो सभी करुणा का पाठ सीखकर अपनी भूल को स्वीकार करते हैं और नाटक की समाप्ति सुख और शान्ति में होती है। इस प्रकार अजातशत्रु का कथानक बहुत पहले ही गौतम द्वारा व्यक्त कर दिया गया है—

"निष्ठुर आदि-सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से,
मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।"

प्रसाद जी ने करुणा शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है। वह केवल हमारी दया का ही द्योतक नहीं है। क्षमा, सहनशीलता, प्रेम, अनुराग, भक्ति, सत्कर्म, कर्तव्य-ज्ञान आदि सभी गुण इस करुणा द्वारा व्यक्त किये गये हैं। परन्तु ये सभी गुण प्रेम जनित बलिदान द्वारा व्यक्त हो जाते हैं। अजातशत्रु के हृदय में सर्वप्रथम मल्लिका की सहनशीलता, उसका क्षमा आदर्श देखकर ही परिवर्त्तन हो जाता है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि यह परिवर्तन अल्पकालीन ही रहता है। छलना की मंत्रणा उसे फिर हिंस्र कर्मों की ओर ले जाती है। परन्तु वाजिरा का प्रेम उसके द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है। प्रेम भी तो करुणा का एक रूप ही है। अजात के लिए वाजिरा करुणा की मूर्ति ही है। "भगवान् ने करुणा की मूर्ति मेरे लिये भेजी है।" वाजिरा भी केवल "तुम हमें करुण दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता का फूल तुम्हारे चरणों पर चढाकर चली जाया करूँगी" यही चाहती है। अजात कहता है "सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है, आज विश्वास भी हो गया" यह करुणा, यह प्रेम, दूसरों के लिए अपना बलिदान करने की क्षमता देता है। वाजिरा द्वारा मुक्त किये जाने पर भी अजात वन्दीगृह नहीं छोड़ना चाहता। "यह नहीं हो सकता। इस उपकार के प्रतिफल में तुम्हे अपने पिता से तिरस्कार और भर्त्सना ही मिलेगी। शुभे, अब यह तुम्हारा चिरबन्दी मुक्त होने की चेष्टा भी न करेगा।" प्रेमोदय होने पर ही प्रथम वार अजात ने विमाता के प्रेम को समझा। "कौन? विमाता? नहीं तुम मेरी माँ हो। माँ, इतनी ठंडी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया है।" अजात के हृदय में प्रेम ने जो करुणा का बीज वो दिया था, वह पुत्र-स्नेह के जल से लहलहा उठा। कौटुम्बिक प्रेम ने विश्वमैत्री और करुणा के लिए स्थान बना दिया। अजात को अपने भ्रम का पता चल जाता है और पिता से क्षमा माँगते समय वह अपनी भूल स्वीकार करता है, "नहीं पिता! मुझे भ्रम हो गया

था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जङ्गलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान—अपने को विश्वभर से स्वतंत्र जीव समझने का झूठा अभिमान।"

पुत्र-वियोग में कातर हो छलना भी प्रथम बार करुणा का अनुभव करती है। अजात के बन्दी होने पर उसके हृदय पर जो चोट पहुँची उसी से उसके हृदय में करुणा का जन्म हुआ।

"वासवी बहिन! (रोने लगती है) मेरा कुणीक मुझे दे दो। मैं भीख माँगती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए इस हृदय में संचित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वांग न करती" इसी करुणा ने छलना में नारी सुलभ सरलता और शान्ति उत्पन्न कर दी।

इस तरह समस्त गुणों की जननी एक करुणा है, जिसका जन्म कुटुम्ब के शान्त वातावरण में ही होता है। नारी जाति करुणा की मूर्ति है, दूसरों के हृदय में करुणा उत्पन्न कराने का एक मात्र साधन। सुखी कुटुम्ब में ही करुणा विद्यामान रहती है। सचमुच वे घर स्पृहणीय हैं जहाँ—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में।
कुल लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में॥
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हो सेवक सुखी, प्रणत अनुचर।
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हों क्यों घर॥

ऐसा कुटुम्ब ही विश्वमैत्री की स्थापना कर सकता है।

कथा संगठन

पूरा नाटक ३ अंकों में विभाजित है। पहले अंक में ही करुणा और अकरुणा का संघर्ष मगध, कौशाम्बी और कौशल में प्रारंभ हो जाता है। दूसरे अंक में अकरुणा की विजय होती है, परन्तु तीसरे अंक के प्रारंभ होते ही करुणा की विजय-पताका फहराने लगती है। संस्कृत

के नाट्य शास्त्रो का सिद्धान्त यद्यपि प्रसाद जी ने नाटक को ५ अंको मे विभक्त करने मे नही अपनाया है तथापि संस्कृत की पाच संधियाँ नाटक मे भली भाँति देखी जा सकती हैं।

अजातशत्रु का कथानक गौतमबुद्ध के समकालीन अजातशत्रु की जीवन की घटनाओ से लिया गया है। मगध, कौशल और कौशाम्बी की घटनाओ का समावेश भी नाटक मे है, क्योंकि इन राज्यो की घटनाएँ एक ओर तो अजातशत्रु के जीवन से संबंध रखती हैं, दूसरे ऐतिहासिक दृष्टि से भी पारस्परिक संबंध होने के कारण इन राज्यो की घटनाओ का चित्रण आवश्यक था। इस प्रकार नाटक मे तीन राज्यों की घटनाएँ दिखाई गई हैं। प्रत्येक राज्य मे एक ओर तो आन्तरिक संघर्ष चला करता है—दूसरी ओर बाह्य। मगध मे छलना और अजात, वासवी और बिम्बसार के विरुद्ध खड़े होते हैं। गौतम के कहने से वा गृह-विवाद मिटाने के लिए बिम्बसार अजात को राज्य दे देते हैं। परन्तु भिक्षुओ का बिना दान लिये लौट जाना बिम्बसार को बुरा मालूम होता है। इस कारण महादेवी वासवी दहेज मे दिये हुए काशी के कर को अपने काम मे लाना चाहती हैं। इस कार्य के लिए उन्हे अपने भाई कौशल नरेश प्रसेनजित की सहायता लेनी पड़ती है। यहीं से बाह्य संघर्ष भी प्रारम्भ होता है। उधर कौशल और कौशाम्बी मे भी आन्तरिक सघर्ष चल रहा है। प्रसेन के विरुद्ध विरुद्धक विद्रोह की ध्वजा फहराता है और पद्मा के विरुद्ध मागन्धी। इन कौटुम्बिक और राजनैतिक सघर्षो के साथ ही गौतम और देवदत्त की भी घात प्रतिघात चल रही है। इस कारण अजातशत्रु नाटक के कथानक का बोझ काफ़ी हो गया है। मगध की कथा मुख्य कथा है, परन्तु वह नाटक के २६ दृश्यो में से ८ मे ही समाप्त की गई है। कौशल और कौशाम्बी का कथानक इससे भी कम मे। हाँ—कौशाम्बी की मल्लिका और वाजिरा का, मगध और कौशाम्बी की घटना संगठित-करने मे मुख्य भाग है। कौशल की घटना भी मागन्धी द्वारा एक रूप से कौशाम्बी के घटना-

प्रवाह में मिल जाती है—परन्तु यथार्थ मे कौशल की घटना का मुख्य कथानक के विकास मे कोई महत्त्व नहीं।

नाटककार ने ऐतिहासिक सत्यता के कारण ही इन तीनों राज्यो की घटनाओ को कथानक मे परिणत किया है। परन्तु उसने कार्य-सकलन की ओर ध्यान नहीं दिया। प्रासंगिक घटनाएँ दो या तीन है जिससे प्रधान कथानक पर बुरा प्रभाव पड़ता है और कथानक का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है। कथा-विकाश के लिए कम स्थान होने के कारण घटनाओं और चरित्रों मे एकाएक परिवर्तन बताया गया है। क्रूर अजातशत्रु मल्लिका के कुछ क्षणों के उपदेश से ही सुधर जाता है। घटना-विकास के लिए और चरित्र-चित्रण के लिए अच्छा होता यदि नाटककार मगध को ही घटना का केन्द्र बनाता।

चरित्र-चित्रण

कथानक बड़े हो जाने के कारण चरित्रों की सख्या भी बढ गई है। मागन्धी को छोड़ कौशाम्बी के किसी पात्र का मुख्य कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं। उदयन, पद्मा और वासवदत्ता घटना-विकास की दृष्टि से व्यर्थ ही हैं। इन्हे निकाल देने से भी नाटक मे कोई हानि न होगी। उदयन का मुख्य कथानक से कोई भी सम्बन्ध नही। पद्मा अवश्य ही नाटक मे महत्त्व रखती है, परन्तु उसके न रहने पर भी नाटक को कोई विशेष हानि न पहुँचती। क्योंकि पद्मा का कार्य और चरित्र उसकी माँ वासवी के समान ही है। कौशाम्बी कथानक से तथा वहाँ के चरित्रो की अवतारणा से मुख्य चरित्रों के विकास को स्थान नही रहा है। जो भी विकास चरित्रो मे हुआ है वह एकाएक ही और बाह्य शक्तियों द्वारा। अजातशत्रु के चरित्र का विकास अवश्य ही क्रमशः हुआ है, परन्तु वह आन्तरिक द्वद्व द्वारा नही। बाह्य परिस्थितियो ने ही उसके चरित्र के रूप को बदला था। यही बात मागन्धी, देवदत्त आदि के विषय मे कही जा सकती है। परन्तु चरित्र-विकास मे अन्तः-

विकास आवश्यक है। क्योंकि नाटक में सदैव ही दोनों द्वंद्व चला करते हैं, आन्तरिक और बाहिर। और आन्तरिक द्वंद्व में भी चित्रण की उतनी ही आवश्यकता है जितनी बाहिर की। कथानक की भीड़ों में और पात्रों की संख्या में प्रसाद जी अन्तर्द्वन्द्व को भूल जाते हैं। इसलिए चरित्रों का जो कुछ विकास हुआ है वह बाह्य द्वंद्व द्वारा ही।

वस्तु की जटिलता के कारण नाटक के कई पात्रों ने प्रधानता ग्रहण कर ली है। विरुद्धक, अजातशत्रु, गौतम और मल्लिका के चरित्र पूर्ण रूप से विकसित हैं। अतएव पहिला प्रश्न जो हमारे सामने आता है वह है नाटक के नायकत्व का। फलागम की दृष्टि से जैसा हम कह आये हैं अजातशत्रु ही फल का स्वामी होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके पूर्व मल्लिका और विरुद्धक को फल स्वाम्य का अधिकार मिल जाता है, परन्तु नाटक की समाप्ति अजात के हृदय में करुणा के उद्रेक होने पर ही होती है। बीजारोपण और फलागम की ओर ले जानेवाली शक्तियों में गौतम और मल्लिका को श्रेय है। क्योंकि उन्हीं के आचरण और परिश्रम से अजात वा अन्य पात्रों को सद्वृत्ति मिलती है। गौतम और मल्लिका में, जैसा हम देख आये हैं, नाटककार ने मल्लिका को अधिक श्रेय दिया है। नायकत्व के नाते गौतम का यह श्रेय भले ही कम हो, परन्तु भिन्न-भिन्न राज्यों की घटनाओं का संबंध उन्हीं से है। अतएव इन तीन चरित्रों में नाटक का नेता कौन है? मल्लिका का प्रश्न यह कह कर टाला जा सकता है कि उसका महत्त्व नाटक के उत्तर भाग में है, पूर्व भाग में उसके दर्शन भी नहीं होते। गौतम और अजातशत्रु के विषय में प्रश्न गंभीर अवश्य है परन्तु कठिन नहीं। शिलीमुखजी गौतम को ही नेता मानते हैं, उनके शब्दों में "समस्त नाटक में जिस विचारधारा का प्रवाह है, जो नाटक के उद्देश्य को निर्धारित करती है, गौतम उसका प्राकृत रूप है। उसकी करुणा की अन्त में विजय होती है, सब कोई उसके प्रभाव को स्वीकार करते हैं। नाटक का अन्तिम दृश्य भी गौतम के बिना समाप्त नहीं होता।

गौतम अभय हाथ उठाते हैं तभी यवनिका पतन होता है। हम तो यही समझते हैं कि एक रूप से नाटक की आत्मा होने के कारण और अन्तिम दृश्य में केवल अभय हाथ उठाने के लिए प्रवेश करने के कारण गौतम ही अजातशत्रु का नायक है अजातशत्रु नही। अजातशत्रु का फल-स्वाम्य तो दूसरे पात्रों के लिए भी साधारण है, परन्तु गौतम की जैसी विजय होती है वैसी और किसी की नही।"

घटना-संगठन की विवेचना करते हुए हम बता आये हैं कि अजातशत्रु का कथानक करुणा और अकरुणा के संघर्ष पर ही निर्भर है। गौतम मे यह संघर्ष नही मिलता। अजात ही इस द्वंद्व का पात्र है, इस कारण नायक वही है गौतम नहीं।

अजातशत्रु

अजातशत्रु के चरित्र मे हमें अन्तर्द्वंद्व नहीं मिलता। हृदय मे रहने वाली कोमल और पाशविक वृत्तियों का सघर्ष नाटककार ने उसके चरित्र मे नहीं रखा और इस कारण चरित्र उतना जटिल नही है, जितना स्कन्दगुप्त का या चाणक्य का। प्रारंभ मे अजात को हम क्रूर और उद्दण्ड राजकुमार के रूप मे देखते हैं। धीरे-धीरे घटनाचक्र और अन्य महान् चरित्रो के प्रभाव से उसके चरित्र में विकास होता है और राजकुमार का क्रूर हृदय कोमल बन जाता है। पहले ही दृश्य मे हम उसे क्रूर और उद्दण्ड देखते हैं। उसकी क्रूरता चित्रक द्वारा भोलेभाले मृगशावकों के खेल और वध देखकर ही सन्तुष्ट रहना चाहती है। मृगशावक के न आने पर अजात की निर्दयता लुब्धक के साथ ही क्रीड़ा करना चाहती है "हाँ तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ, समुद्र ला तो कोड़ा।" शील और नम्रता का पाठ अजात ने मानो पढ़ा ही नही। गुरुजनों के प्रति व्यवहार-कुशलता का उसे ज्ञान नहीं। बड़ी बहिन का, जो उसके यहाँ अतिथि होकर आई थी और बड़ी माँ वासवी का अनादर करना उसके लिए

एक साधारण-सी बात है।

"नहीं माँ, मैं तुम्हारे यहाँ न आऊँगा जब तक पद्मा दूर न जायगी।"

"यह पद्मा मुझे बार बार अपदस्थ किया चाहती है और जिस बात को मैं कहता हूँ उसे ही रोक देती है।"

इसमें सन्देह नहीं कि क्रूरता का यह पाठ उसको छलना का ही पढ़ाया हुआ है। बच्चे के हृदय में उसी ने यह "कँटीली झाड़ी" लगा दी है। छलना का भी इसमें दोष नहीं। उसका जिद्दी मन कुणीक में ही उत्तम राज्यशासक देखना है। उसके लिए उद्दण्डता ही कुमार की द्योतक है।

"जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढाया जाता। राजा का परमधर्म न्याय है, वह दण्ड के आधार पर है। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक है।"

अजात का यह कटु और दुर्विनीत व्यवहार अपने पिता के प्रति भी है। गौतम के पूछने पर कि "क्यों कुमार, तुम राज्य का कार्य मंत्रि-परिषद् की सहायता से चला सकोगे?" अजात यह शील और विनय-शून्य उत्तर ही देता है "क्यों नहीं, पिताजी यदि आज्ञा दें।" शासन पा चुकने पर विरुद्धक का पक्ष लेते हुए भी वह कहता है—

"हम नहीं समझते कि इन बुड्ढों को क्या पड़ी है और इन्हें सिंहासन का कितना लोभ है। क्या यह पुरानी और नियंत्रण से बँधी हुई, संस्कार के कीचड में निमज्जित, राजतंत्र की पद्धति, नवीन उद्योग को सफल कर देगी? तिल भर भी जो अपने विचारों से हटना नहीं चाहता उसे अवश्य नष्ट हो जाना चाहिए, क्योंकि यह जगत ही गतिशील है।"

शासनाधिकारी होने पर वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक बन जाता है। राजा का कर्तव्य प्रजा में सुख और शांति बढ़ाना है। यदि राजा इस योग्य नहीं तो उसे शासक होने का कोई अधिकार नहीं और इस रूप में प्रजा से कर लेने का भी उसे अधिकार नहीं। काशी की प्रजा इसी आधार पर कर नहीं देना चाहती थी।

"हम लोग उस अत्याचारी राजा को कर न देंगे, जो अधर्म्म के बल से पिता के जीते भी सिंहासन छीनकर बैठ गया है। और जो पीड़ित प्रजा की रक्षा भी नहीं कर सकता। उनके दुखों को नहीं सुनता।"

शैलेन्द्र से प्रजा को बचाना तो दूर ही रहा, अजात प्रजा के साथ भी क्रूरता का व्यवहार और कठोर शासन करने की सोचने लगता है।

"'राजकर मैं न दूँगा' यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ वह भी क्यों न निकाल ली गई? काशी का दण्डनायक कौन मूर्ख है? तुमने उसी समय उसे बन्दी क्यों नहीं बनाया?"

निरंकुश और आतकवादी शासन क्रूर मनुष्य द्वारा ही हो सकता है। नवीन रक्त राज्यश्री को सदैव तलवार के दर्पण मे देखना चाहता है।

मल्लिका के संपर्क मे आने पर उसे प्रथम बार अलौकिक शाति का अनुभव होता है। "देवी, आप कौन हैं? हृदय नम्र होकर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी मैंने कभी नहीं सुनी।" मागन्धी का क्षमादान, अपने पति के हत्यारे के साथ दया और नम्रता का व्यवहार, अजात को मंत्रमुग्ध-सा कर देता है। वह मल्लिका को एक देवि रूप मे देखने लगता है।

"तब भी आपने उस अधम जीवन की रक्षा की। ऐसी क्षमा। आश्चर्य! यह देव कर्तव्य......"

मल्लिका द्वारा अजात प्रथम बार ही अनुपम शाति का अनुभव करता है। प्रथम बार ही उसे मनुष्य-कर्तव्य का पाठ मिलता है और शासन की क्रूरता मे कमी आ जाती है—युद्ध मे भयानकता मालूम होने लगती हैं।

"मां क्षमा हो! युद्ध मे बडी भयानकता होती है। कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्त्वमय चित्र न जाने किस षड्यंत्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है।"

इतना ही नहीं, उसे अपने पिता के प्रति कर्तव्य का भी ज्ञान होने

लगता है, "मैं आज भी सिंहासन से हटकर पिता की सेवा करने को प्रस्तुत हूँ।" मल्लिका का सम्पर्क क्षणिक था, उसका प्रभाव भी क्षणिक ही रहा। छलना, विरुद्धक और देवदत्त की मंत्रणा उसे फिर युद्ध की ओर ले जाती है। वास्तव में यह क्षणिक परिवर्तन केवल बाह्य शक्ति द्वारा ही हुआ था। अभी तक अजातशत्रु को स्वयं करुणा का अनुभव न था। बन्दी बनने पर, वाजिरा के प्रेम के रूप में ही उसके हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और उसी समय में उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान भी होने लगता है। प्रेम के द्वारा विद्रोह भी पराजित हो जाता है। कर न देनेवाली प्रजा के विद्रोह को दबाने के लिए जो शक्ति और बल का प्रयोग करना जानता था उसका विद्रोही हृदय स्वयं करुणा से अभिभूत हो जाता है।

"सुनता था प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास हो गया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर दिया।" स्वयं प्रेम का अनुभव होने पर वह प्रेम के महत्त्व को भी पहिचानने लगता है। दूसरों के प्रेम को भी देख सकता है।

"कौन विमाता? नहीं तुम मेरी माँ हो। माँ, इतनी ठंडी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया।" पुत्र-रत्न पाने पर अजात को पितृ-स्नेह का परिचय मिलता है। बिम्बसार भी इस बात को समझता है। "क्यों अजात, पुत्र होने पर पिता के स्नेह का गौरव तुम्हें विदित हुआ?" अजात को अपनी भूल मालूम होती है।

"नहीं पिता, मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जंगलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान—अपने को विश्वभर से स्वतंत्र जीव समझने का झूठा अधिकार।"

गौतम

गौतम के चरित्र में कोई विकास नहीं। वे एक महात्मा हैं। कर्तव्य-पालन और सत्कर्म ही उनका आदर्श है। महात्मा के नाते वे सभी

गुण-सम्पन्न हैं। और इस रूप में उनका चरित्र बहुत ही सरल है। नाटक की सारी घटनाओं के वे ही केन्द्र हैं—उनका प्रभाव तीनों राज्य-मंडलों में देखा जाता है। उनका चरित्र उनके सिद्धान्तों का व्यक्तीकरण है। वे क्षमा के अनुगामी हैं—करुणा के पुजारी हैं—प्रेम और दया को ये संसार-विजय में महान् शक्ति समझते हैं। "विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणिमात्र से सम दृष्टि रखती है।" मधुर व्यवहार से वन्य पशु भी वश में हो जाते हैं फिर मनुष्य तो मनुष्य ही है। "शीतल वाणी, मधुर व्यवहार से क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते ?" गौतम के विचारों और सिद्धान्तों का मूल मंत्र करुणा है जो विश्वमैत्री की प्रथम सीढ़ी है। सत्या-चरण में सत्य की सदैव ही विजय होती है, इसी कारण देवदत्त के कपटा-चरण की परवाह न करते हुए वे अपना कर्तव्य करते रहते हैं। "क्या करुणा का आदेश कलंक के डर से भूल जाओगे ?" "सत्य-सूर्य को कहीं कोई चलनी से ढक लेगा ? इस क्षणिक प्रवाह में सब विलीन हो जावेंगे। मुझे अकार्य करने से क्या लाभ।" शत्रुओं के प्रति उदा-सीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है। इसी कारण गौतम ने देवदत्त के मलिन कर्म्मों की ओर ध्यान नहीं दिया क्योंकि "दूसरों के मलिन कर्मों के विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है।" गौतम के सिद्धान्त नाटक के मूल तत्व हैं, उन्हीं पर नाटक निर्मित हुआ है। अतएव उनके सिद्धान्तों का कुछ न कुछ रूप हमें बिम्बसार, मल्लिका आदि चरित्रों में भी मिलता है।

बिम्बसार

माहाराज बिम्बसार कुछ दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। जब भी हम उन्हें अकेला पाते हैं तभी 'जीवन की क्षणभंगुरता' नियति आदि विषयों पर ही सोचता हुआ देखते हैं। अन्तिम दृश्य में वे अपने जीवन पर ही दार्शनिक सिद्धान्त निर्मित करते हैं और दूसरे

अंक के छठवे दृश्य मे वे प्रकृति मे मायावी ववंडर देखते है। यह दार्शनिकता वास्तव मे उनकी हृदय-जनित नहीं है। वह तो केवल गौतम के प्रभाव का परिणाम-स्वरूप ही मालूम होती है। क्योंकि जीवन की क्षणभंगुरता जानते हुए भी विम्बसार को अपने राज्य से मोह है। गौतम की आज्ञा पालन करने के लिए ही उन्होंने शायद राज्य छोड़ा था—क्योंकि बाद मे भी राज्य की लालसा उनकी बातों से टपका करती है। दूसरे दृश्य मे भी गौतम के प्रस्ताव पर कि राज्य अजातशत्रु को दे दिया जावे—वे कुछ आनाकानी करते है जो वास्तव मे अजात की योग्यता और अयोग्यता से उतना संबंध नहीं रखती, जितना उनके अधिकार-सुख से। "योग्यता होनी चाहिए महाराज! यह गुरुतर कार्य है। नवीन रक्त राज्यश्री को सदैव तलवार के दर्पण में देखना चाहता है।" गौतम इस उत्तर का रहस्य समझते हैं इसीलिए वे हॅसकर कहते हैं।

"यह बहाना तुम्हारा राज्याधिकार की आकांक्षा प्रकट कर रहा है। राजन् समझ लो। गृह-विवाद और आन्तरिक झगड़ों से विश्राम लो।"

प्रथम अंक के चौथे दृश्य मे वे अपने इसी राज्य-त्याग के बारे में सोच रहे हैं और किसी तरह अपने मन के बहलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। "संसारी को त्याग तितिक्षा या विराग होने के लिए यह पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नही रह जाता, क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।" वासवी के इस उत्तर ने कि "मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वंचित होने का दुख नही।" एक प्रकार का व्यंग्य सा मालूम होता है क्योंकि दूसरे ही क्षण विम्बसार की लालसा प्रकट होती-सी दिखती है। "दुख तो नही है। देवी! फिर भी इस कुणीक के व्यवहार से अपने अधिकार का ध्यान हो जाता है। तुम्हे विश्वास हो या न हो, किन्तु कभी-कभी याचकों का लौट जाना मेरी वेदना का कारण होता है।"

अन्तिम दृश्य मे भी वे कुछ-कुछ ऐसे ही विचारों मे मग्न हुए दिखते हैं।

"मनुष्य-हृदय भी एक रहस्य है, एक पहेली है। जिस पर क्रोध से भैरवहुङ्कार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है। उन्माद! और क्या? मनुष्य क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर कभी निश्चेष्टता नहीं ग्रहण कर सकता? हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषायें बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है····· "

महाराज बिम्बसार का प्रेम रानी वासवी पर पहले ही से अधिक है और वे अधिकतर उन्हीं के कहने पर कार्य भी करते हैं। राज्य-त्याग की इच्छा उन्होंने वासवी की इच्छा के बाद ही प्रकट की। वास्तव में रानी वासवी महाराज से अधिक चतुर हैं। दूसरे अंक के छठवें दृश्य में वासवी की बुद्धिमत्ता महाराज से अधिक मालूम होती है। इस कारण यह आश्चर्यजनक नहीं कि महाराज भी वासवी की इच्छा पर ही कार्य करें। "बिम्बसार के चरित्र का प्रधान लक्षण उसकी दुर्बल प्रकृति है। जिसके कारण वह शान्ति की इच्छा करता हुआ भी शान्ति नहीं पा सकता है ·· · बिम्बसार के चरित्र का परमश्रेष्ठ गौरव इसी बात में है कि उसकी दुर्बलताओं का व्याकरण करके वैराग्य वृत्ति के साथ उनका कुशल सामञ्जस्य किया गया है। जहाँ उसके चरित्र के विश्लिष्ट गुणों की संकरता दिखाई गई है, वहाँ लेखक की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का अच्छा प्रकाश होता है। ऐसे स्थलों में एक स्थल परम मनोहर है जिसमें चित्रण की कुशलता द्वारा भावुक कवित्व की सुन्दर प्रतिष्ठा हुई है। अजातशत्रु प्रवेश करते ही अपने पिता के पैरों में गिर पड़ता है। तब पिता कहता है—'नहीं-नहीं, मगधराज, अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करना चाहिए। मेरे दुर्बल चरण—आह छोड़ दो!' व्यंग्य, अभिमान, वात्सल्य, व्याकुलता आदि का एक साथ और इतने थोड़े में ऐसा संघर्ष बड़ा उज्ज्वल हो उठा है।"[1]

---

[1] शिलीमुख—'प्रसाद की नाट्यकला' पृ० १८९-९०

स्कन्दगुप्त

कथा संगठन

अजातशत्रु के ८ वर्ष पश्चात् स्कन्दगुप्त नाटक प्रकाशित हुआ। जनमेजय का नागयज्ञ इन दो नाटकों के बीच की कृति है। अतएव नाटककार ने नाट्य रचना को इतने काल तक छोड़ा नहीं और उनकी नाट्यकला का जो विकास क्रमशः चल रहा था वह यहाँ पूर्ण हो गया है। स्कन्दगुप्त प्रसाद के नाटकों मे परमोत्कृष्ट रचना है। इसके पश्चात् भी यद्यपि नाटककार को चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी नाटक और लिखने थे, परन्तु चन्द्रगुप्त मे जो दोष आ गये हैं उन सभी दोषों से स्कन्दगुप्त बच गया है।

स्कन्दगुप्त आर्य्य साम्राज्य के पतन-काल का चित्र है। अंतर्विद्रोह और स्वार्थपरता ने देश को अशक्त बना डाला था। गुप्त साम्राज्य की राजधानी, मगध, विलासिता का केन्द्र बन गई थी। पारसीक मदिरा और नर्तकियों का मान था। कुमारगुप्त "सिंहासन पर बैठे-बैठे राजदण्ड हिला देने से ही" राज्य करना चाह रहे थे। पश्चिमी भारत पर हूणों

के आक्रमण होने प्रारम्भ हो गये थे और चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित गुप्त साम्राज्य अपने विनाश की ओर अग्रसर हो रहा था। भारत के उत्कर्ष का यह तीसरा प्रहर था। इस समय यदि आशा थी तो केवल स्कन्द से—वही गुप्त कुल का जगमगाता नक्षत्र था। सारा भारत केवल उसी की ओर देख रहा था। स्कन्दगुप्त नाटक ऐसे ही पतित होते हुए भारत का चित्र है जिसमें स्कन्द अपनी प्रतिभा से उसे उन्नति के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करता है।

इस कारण स्कन्दगुप्त नाटक में ऐतिहासिक वातावरण के साथ ही साथ स्कन्द की महानता प्रदर्शित करने के लिए समकालीन भारत का जीता जागता चित्र नाटककार को चित्रित करना अत्यावश्यक था। इतिहास और साहित्य दोनों के नाते भारत के इस परिवर्तनकाल को जितने भी गहरे रंगों में भरा जा सके, जितना ही स्पष्ट रूप वह उसे दे सके उतनी ही नाटककार की कला और कल्पना सफल समझी जावेगी। इसीलिए नाटककार ने भारत की उस दयनीय दशा के चित्रण का पूर्ण ध्यान रखा है। उसी के ऊपर ही साहित्य के नाते स्कन्द के नायकत्व का और इतिहास के नाते सत्यता का बोध हो सकता है।

स्कन्दगुप्त में पाँच अंक हैं। ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक अंक संस्कृत की पांच संधियों के आधार पर ही निर्मित किया गया है। नाटक का उद्देश्य स्कन्द को अपनी प्रतिकूल प्रत्येक बाधाओं पर विजयी बनाकर चक्रवर्ती सम्राट् बनाना है और इसके लिए उसे हूणों का दमन करना, अन्तर्विद्रोह का अंत करना और विलासिता में फंसी हुई आर्य्य जाति को आदर्श पथ की ओर अग्रसर करना आवश्यक है। प्रथम अंक में ही बीजारोपण हो जाता है और स्कन्द मालव पर आक्रमण करने वाले शक और हूणों को परास्त करता है। हूणों की यह पराजय मुख सन्धि ही समझना चाहिये। इसके अनन्तर दूसरे अंक में स्कन्द सम्राट् बनता है और अन्तर्विद्रोह के प्रथम प्रयत्न को असफल करता है—स्कन्द अपने उद्देश्य की ओर ही बढ़ रहा है और यहाँ हमें बीज

मशः विकास होने के लक्षण दिखाई देते हैं। इस तरह द्वितीय अंक के कुछ पूर्व ही प्रतिमुख सन्धि की समाप्ति हो जाती है। तृतीय अंक में परिस्थितियों का अधिक विकास हो रहा है।

"भीमसेन—आर्य साम्राज्य का उद्धार हुआ है। चकित! सिन्धु के प्रदेश में म्लेच्छराज ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता। लौहित्य से सिन्धु तक, हिमालय की कंदराओं में भी स्वच्छन्दता-पूर्वक सामगान होने लगा।" आर्यावर्त्त ने हूणों के आतंक को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए, उन्हें एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कन्द सभी सामन्तों को आमंत्रित कर अपने उद्योग में लगा हुआ है। प्रतिमुख संधि की परिस्थितियाँ तीसरे अंक की गर्भ-संधि में और भी अधिक विकसित हो गई हैं। परन्तु चौथे अंक में ही अवमर्श ने भयानक बाधाएँ उपस्थित कर दीं। भटार्क का षडयन्त्र सफल हो गया और वही स्कन्दगुप्त जो "रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्यावर्त्त की छत्रच्छाया" था, वही आज "निष्प्रभ, निस्तेज उसी के मलिन चित्र सा" इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। पर्णदत्त जिसके लोहे से आग बरसती थी अब सूखी लकड़ियाँ बटोरकर आग सुलगाता है। सूखी रोटियाँ और कुत्सित अन्न को अक्षय निधि के समान बटोरकर रखता है। सारा अंक निराशापूर्ण है। स्कन्द के सम्राट् होने की आशा स्वप्नवत् मालूम पड़ती है। पाँचवे अंक में भारत के भाग्य का उदय होता है। स्कन्द के बाहुबल और भटार्क वा पर्ण के प्रयत्नों से हूणों की पराजय होती है। भारत-लक्ष्मी फिर हँसती है। सम्राट् स्कन्दगुप्त साम्राज्य पाकर उसे अपने भाई पुरगुप्त के लिए छोड़ देते हैं। अन्तर्विद्रोह और हूणों के आतंक को नष्ट कर स्कन्द भव्य भारत के उन्नत ललाट पर प्रातः भानु की भाँति प्रकाशमान् होने लगता है।

स्कन्दगुप्त का कथानक अजातशत्रु के कथानक की भाँति उलझा

नहीं है। उसमें एक ही मुख्य कथा है। प्रासंगिक घटनाओं के फेर में पड़कर नाटक की कथावस्तु को जटिल नहीं बनाया गया है। यद्यपि नाटककार यहाँ भी मगध और मालव के राज्यों में सम्बन्ध रख रहा है—परन्तु मालव की सारी घटनाएँ आधिकारिक वस्तु की ही अंग हैं, उनका सहयोग नाटक में एकता और पूर्णता स्थापित करने के लिए है। कथानक को विशृंखल बनाने के लिए नहीं। फलागम को सामने रखते हुए नाटककार ने प्रथम अंक के सात दृश्यों में स्कन्द की आपत्तियों और बाधाओं का ही उल्लेख किया है। पुष्यमित्रों के युद्ध, शक, हूण और मगधों द्वारा पश्चिमी भारत पर आक्रमण, सौराष्ट्र को पदाक्रान्त कर मालव पर उनके अभियान की सूचना, मगध सम्राट को अपने उत्तरदायित्व की ओर उन्मुख करती है। लेकिन कुमारगुप्त की विलास-मात्रा की सूचना भी हमें पर्णदत्त द्वारा और साम्राज्य के अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम की सूचना चक्रपालित द्वारा मिलती है। आशा का तारा केवल स्कन्द ही दिखता है जिसकी ओर हमारी दृष्टि आप से आप झुकने लगती है। स्कन्द जिस उत्साह से मालव-दूत को उत्तर देता है वह आप से आप हमारा ध्यान नायक की ओर ले जाता है।

"दूत केवल सन्धि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं; किन्तु शरणागत की रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।"

दूसरा दृश्य राजधानी की विलासिता का चित्र है जहाँ धातुसेन का व्यंग सम्राट की निरीहता और अनंतदेवी की कूट मन्त्रणा का परिचायक है। कुमारगुप्त छोटी रानी के हाथ में कठपुतले हैं। राज्य का कार्य कुमारामात्य पृथ्वीसेन ही किया करते हैं। भला सम्राट को मदिरा और पारसीक नर्तकियों से समय कहाँ? इन दो दृश्यों की

घटनाओं की अधिकता का दर्शकों की स्मृति पर अधिक भार न पड़े इसलिए तृतीय दृश्य प्रथम दो दृश्यों की संक्षेप में पुनरावृत्ति-सा करता है। उधर अन्तःपुर में अनन्तदेवी महादेवी बनने की लालसा में, भटार्क अपने व्यर्थात्माभिमान में और प्रपंचबुद्धि सद्धर्म के उद्धार के लिए कुमारगुप्त की हत्या कर पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठालने का भयानक षडयंत्र रच रहे हैं। मगध में स्कन्दगुप्त की अनुपस्थिति षडयंत्रकारियों के लिए अमूल्य अवसर प्रदान कर देती है और अन्तःपुर का अन्तर्विद्रोह छठे दृश्य तक पूर्ण सफल हो जाता है। छठे और सातवें दृश्यों में स्कन्द हूणों पर विजय पाते हैं। दूसरा अंक देवसेना और विजया की प्रणय-लीला का है। स्कन्द मालव का सम्राट बनता है और पुरगुप्त के प्रयत्नों पर पानी फेर देता है। कथानक का प्रवाह कहीं भी मंद नहीं पड़ता। भिन्न-भिन्न स्रोत आकर उसकी धारा विस्तृत और गहन करते जाते हैं, उसके मार्ग में चट्टानें लाकर बाधायें उपस्थित नहीं करते।

तीसरा अंक दूसरे अंक की घटनाओं को और भी आगे बढ़ाता है। विजया और देवसेना के आन्तरिक द्वेष का परिणाम प्रपंचबुद्धि के निहत होने में होता है, जिसके फलस्वरूप "गुप्त परिषद्" के प्रभावशाली व्यक्ति की मृत्यु से षडयंत्रकारियों की शक्ति को काफी क्षति पहुँचती है। फिर भी भटार्क का षडयंत्र सफल हो जाता है और आर्य्य साम्राज्य का विध्वंस चौथे अंक का कलेवर बनता है। विपत्तियां ही मनुष्य को सत्पथ पर प्रेरित करती हैं, आँखों का परदा वास्तविकता देखने पर ही हट जाता है। भटार्क में सद्बुद्धि जागती है, वह स्कन्द का क्षमाप्रार्थी होता है। कनिष्क के स्तूप के पास आर्य्य साम्राज्य के सभी बिखरे रत्नों को पर्णदत्त पहले से ही इकट्ठा कर लेता है। एक बार स्कन्द फिर अपनी शक्ति संकलित करता है और इस बार उसके स्वप्न साक्षात् हो जाते हैं।

नाटक का एक भी दृश्य ऐसा नहीं जो अपने आधिकारिक स्थान

में हटा हुआ है। प्रत्येक दृश्य मूल कथानक से इस प्रकार सम्बद्ध है कि एक दृश्य की न्यूनता सारी शृंखला को विच्छिन्न कर देगा। प्रत्येक का अपना-अपना स्थान है और प्रत्येक अपने मूल कथानक के विकास में पूर्ण सहयोग देता है। कुछ लोगों ने स्कन्दगुप्त के बौद्ध और ब्राह्मण वाले दृश्य को अनावश्यक बतलाया है। लेकिन जैसा हम लिख आये हैं कि स्कन्द के उत्कर्ष के लिए भारत की दयनीय दशा का चित्रण नितान्त आवश्यक है। यह दृश्य केवल नाटककार की इतिहासनिष्ठा का द्योतक नहीं और यद्यपि गुप्तकालीन परिस्थितियों के चित्रण करने में उसका सबसे प्रमुख स्थान है, लेकिन साहित्य और नाटक की दृष्टि से भी उसका कम महत्त्व नहीं। दण्डनायक का यह कथन—

"नागरिकगण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो!"

वास्तव में भारत की शोचनीय दशा का चित्रण है, जिससे स्कन्द का कार्य और भी कठिन हो जाता है। इन्हीं आन्तरिक झगड़ों के कारण ही तो हूण आर्य्यावर्त्त में हूण प्रवेश कर सके थे।

"इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है कई बार के विताड़ित हूण इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आये हैं। इन गुप्त शत्रुओं की कृतघ्नता का उचित दण्ड मिलना चाहिये।

श्रमण—ठीक है। गंगा, यमुना और सरयू के तट पर गड़े हुए यज्ञ-यूप सद्धर्मियों की छाती में ठुकी हुई कीलों की तरह अब भी खटकते हैं। हम लोग निस्सहाय थे, क्या करते? विधर्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायं और धर्म की रक्षा हो।"

परन्तु यह वास्तव में सद्धर्म के उत्कर्ष की चेष्टा न थी। यह थी "एक युद्ध करने की मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म करना और धर्माचरण की दुन्दुभी बजाना।" इसी प्रेरणा के कारण ही प्रपंचबुद्धि ने हूणों से संधि की थी, अन्तःपुर में विद्रोह की ज्वाला

प्रज्वलित की थी और अपने धर्म को ऊपर उठाने के लिये अधर्म का रास्ता अपनाया था। यह उसका वास्तविक धर्मप्रेम न था, यह थी उसकी धर्मान्धता, "क्रूर कर्म की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म के उठाने की आकांक्षा।" इसी धर्म्माचरण की शर्वनाग ने हँसी उड़ाई थी।

"प्रपंच०—धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा।

शर्व०—भिक्षु शिरोमणे! वह कौन सा धर्म है, जिसकी हत्या हो रही है?

प्रपंच—यही हत्या रोकना। अहिंसा, गौतम का धर्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हां, अवसर ऐसा है हम वह काम भी करें जिससे तुम चौक उठो। परन्तु नहीं, वह तो तुम्हे करना ही होगा।

भटार्क—क्या?

प्रपंच०—महादेवी देवकी के कारण राजधानी मे विद्रोह की सम्भावना है, उन्हे संसार से हटाना होगा।

शर्व०—ठीक है, तभी आप चौकते हैं और तभी धर्म की रक्षा होगी, हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेगे—क्यों?"

बौद्धो का यही आचरण हूणों के षडयंत्र मे भी सहायक होता है। हूण का चर भटार्क से कहता है "आर्य महाश्रमण के पास मै हो आया हूँ। समस्त सद्धर्म्म के अनुयायी और संघ स्कन्दगुप्त के विरुद्ध हैं। याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है और सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक है।"

बौद्धो और ब्राह्मणो का दृश्य इसी धर्म्मान्धता और अदूरदर्शिता का परिचायक है। यदि केवल प्रपंचबुद्धि और महाश्रमण मे ही अन्तः विद्रोह की भावना होती तो स्कन्द के लिये उन्हे हटाना कठिन

न होता। लेकिन पूरी बौद्ध जनता के ये भाव नायक के लिए एक विकट समस्या उपस्थित कर देते हैं। सनातन धर्म के इस अभ्युदय-काल में ब्राह्मणों की जो संकुचित मनोवृत्ति थी, वही बौद्धों की भी थी। साम्प्रदायिक झगड़ों ने एक दूसरे को कट्टर शत्रु बना दिया था, अतएव यह दृश्य ऐतिहासिक सत्यता का चित्र अंकित करने के साथ ही साथ नाटक में भी विशेष महत्त्व रखता है। उसे केवल कवि का इतिहास-प्रेम-प्रदर्शन कहना भूल होगा।

वस्तु-संकलन में पूर्ण समाहार हुआ है। घटनाओं में प्रवाह है लेकिन इतनी द्रुतता नहीं कि पाठक की विचार शक्ति पिछड़ने लगे। आकांक्षा और जिज्ञासा की प्रत्येक दृश्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और अन्त में उसका समाधान पाँचवे अंक में होता है। औत्सुक्य की चरम सीमा चौथे अंक में पहुँच जाती है जहाँ स्कन्द की सारी आशायें निर्मूल हो जाती हैं। वह अकेला अपने भाग्य को कोसता हुआ इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। उसके हृदय में शान्ति नहीं, कुटुम्ब में शान्ति नहीं, राज्य में शान्ति नहीं। शर्वनाग, पर्णदत्त, भटार्क सभी **"लुट गये से, अनाथ और आश्रयहीन"**। आशा की किरण भी नहीं। पढते-पढ़ते हृदय घबड़ा उठता है। आगे क्या होगा? यही प्रश्न हमारे सामने नाचता रहता है। नाटककार धीरे-धीरे इस दयनीय दशा को बढाता ही गया है, अन्त में घटनाये चरमसीमा पर पहुँच कर पूर्ण शान्ति में समाप्त होती हैं।

अस्वाभाविक घटनायें ?

कुछ लोगों को भटार्क का अपार धन-राशि मिलना घटनाओं की समाप्ति के लिए एक असम्भवनीय कल्पना जान पड़ेगी। लेकिन ऐसी नित्य प्रति ही छोटी-छोटी घटनायें हमारे जीवन में होती रहती हैं। फिर भी नाटककार ने इस घटना का संकेत बहुत पूर्व ही विजया के द्वारा करा दिया था।

"मेरा रत्नगृह अभी बचा है, उसे सेना-सङ्कलन करने के लिए

सम्राट् को दूँगी और एक बार बनूँगी महादेवी। क्या नहीं होगा? अवश्य होगा। भटार्क ने इसीलिए इस रक्षित रत्नगृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूँ।"

घटना के थोड़ी देर पहले ही इसी दृश्य में विजया ने फिर से इन्हीं रत्नगृहों की बात छेड़ दी है, जब स्कन्द से कहती है—

"मेरे पास अभी दो रत्नगृह छिपे हैं जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो।"

यह सम्भव है कि विजया ने इन रत्नगृहों को कहीं आसपास की भूमि में ही छिपा रक्खा हो। इस प्रकार रत्नगृहों का भूमि से निकल आना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं।

प्रथम दृश्य की पीठिका

घटना-प्रस्फुटन बहुत ही धीरे-धीरे हुआ है, जिससे दर्शकों की स्मरण शक्ति पर अधिक भार नहीं पड़ता। प्रथम दृश्य की पूर्व पीठिका बड़ी सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण हुई है। महान् ऐतिहासिक पार्श्व भूमि का कितना संक्षिप्त और तीव्र दृश्य नाटककार ने हमारे सामने रखा है। इस दृश्य के विषय में लेखक के विचार श्री शिलीमुखजी से कुछ भिन्न हैं। वे स्कन्दगुप्त के प्रथम दृश्य को अच्छा नहीं मानते क्योंकि "वह इतिहास का एक परिच्छेद-सा हो गया है और पाठक या दर्शक की मनोरञ्जक वृत्ति की अपेक्षा उसकी स्मरण शक्ति का ही अधिक आग्रह करता है। प्लाट की दीर्घता के कारण और भी कहीं कहीं स्मरण शक्ति की अपेक्षा होती है" वास्तव में स्कन्दगुप्त का प्रथम दृश्य ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जितना अच्छा परिचायक हुआ है उतना कोई अन्य दृश्य नहीं, परन्तु इसके कारण उसका मनोरञ्जन घटा हो ऐसी कोई बात नहीं। पर्णदत्त का स्कन्द से वार्तालाप "राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है ....." आदि, चक्रपालित द्वारा 'उदासीनता' का स्पष्टीकरण और स्कन्द का दूत को उत्तर क्या

कम मनोरंजन और आकर्षण रखते हैं ? क्या हमारी उत्कण्ठा और
रसात्मक प्रवृत्ति इन स्थलों में सुप्त ही पड़ी रहती है ? दृश्य में कार्य
व्यापार की गतिशीलता भी पर्याप्त है लेकिन नाटककार हमारी स्मरण
शक्ति पर भार नहीं डालना चाहता । मुख्य-मुख्य घटनाओं की पुनरा-
वृत्ति इसी कारण उसने दूसरे तीसरे और चौथे दृश्यों में कर दी है।
घटना-बाहुल्य उसने एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही रखा है जिस पर
हम अभी विचार करेंगे।

पहले दृश्य में हमें मुख्य तीन सूचनायें ही मिलती हैं—(१) स्कन्द
का अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता (२) हूणों का आतंक (३)
कुमारगुप्त का शासन से हटा हुआ दिल। इसमें सन्देह नहीं कि छोटी-
छोटी-सी घटनायें जैसे वीरसेन की मृत्यु का समाचार, पुष्यमित्रों का
युद्ध, वलभी, सौराष्ट्र और मालव पर हूणों और शकों का नवीन अभि-
यान आदि अन्य बातों का उल्लेख भी इसमें है, परन्तु नाटक की दृष्टि
से न तो वीरसेन का नाम ही विशेष महत्त्व का है और न वलभी,
सौराष्ट्र आदि के नाम ही। हाँ, यदि हम इतना याद रख सकें कि इस
समय हूणों ने कई देशों को पदाक्रान्त कर डाला है तो नाटककार का
उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। पहली और तीसरी सूचना के लिए तो
नाटककार ने चार पृष्ठों का उपयोग किया है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि जब नाटककार को इतनी घटनाओं
और चरित्रों की सूचना आवश्यक नहीं तो फिर वह इनका व्यर्थ में
क्यों समावेश करता है ? इन घटनाओं का एक अज्ञात प्रभाव हमारी
मनोवृत्तियों पर पड़ता है। घटनाओं का बाहुल्य और उनकी तीव्रगति
हमारी मानसिक अवस्था को विक्षिप्त कर देता है जिसके कारण हमें
आपसे आप क्षत-विक्षत भारत का पूर्ण अनुभव होने लगता है।

दोष

दर्शकों में उत्सुकता बनाये रखने में भी नाटककार बहुत सफल

हुआ है। प्रत्येक अंक या प्रत्येक दृश्य हमारी जिज्ञासा को बढ़ाता ही जाता है दृश्य का निर्माण भी इसी आधार पर हुआ है। कहीं-कहीं तो भावों को चरम-सीमा पर ले जाकर एकदम पटाक्षेप करने में नाटककार दर्शकों को ऊपर ले जाकर शून्य में छोड़ देता है जिससे [illegible] रसोत्पादन में नाटककार सफल हो गया है। फिर भी नाटककार ने कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने दी। देवकी का मृत्यु के इतने समीप पहुँचना हमारे कौतूहल और भावावेश बढ़ाने में मुख्य स्थान है। स्कन्द का ठीक समय पर पहुँचना उतना अस्वाभाविक नहीं क्योंकि उसके पूर्व ही धातुसेन और मुद्गल का कारागार में देवकी की मुक्ति की बात और स्कन्द का मगध पहुँचना हमें मालूम हो चुका था। थोड़ी सी अस्वाभाविकता स्कन्द के देर में पहुँचने में हो सकती है, क्योंकि यदि रामा देवकी के प्राण बचाने में प्रयत्न न करती तो बहुत पहिले ही देवकी स्वर्गलोक पहुँच चुकी होती। स्कन्द का इतनी देर लगाना और देवकी पर आक्रमण होने के एक क्षण पूर्व पहुँचना केवल दर्शकों के भावों मे क्रदन मचाने को है। अच्छा तो यह होता कि स्कन्द के आने की सूचना नाटककार हमें बाद वाले दृश्य मे देता। एकाध स्थान पर और भी ऐसी ही असंभवनीय घटनाये आ गई है। स्कंद श्मशान मे मातृगुप्त की प्रतीक्षा करता हुआ प्रपंचबुद्धि को देखता है। "ओह! कैसा भयानक मनुष्य है! कैसी क्रूर आकृति है! मूर्तिमान पिशाच है—अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिप कर देखूं।" स्कन्द छिपकर क्या देखना चाहता है? क्या प्रपचबुद्धि को? लेकिन उसे देखने की उत्कंठा स्कन्द को प्रपंच के समीप ले जाती है। हां, उसका छिपना देवसेना के प्राण बचाने में सहायक अवश्य होता है।

चरित्र-चित्रण

पात्रो मे अन्तर्द्वंद्व

कथानक की तरह स्कन्दगुप्त का चरित्र-चित्रण भी दोष-रहित हुआ है। अन्तस्तल की उन निगूढ धाराओं पर भी कवि ने प्रकाश

डाला है जिनको मनुष्य का दम्भ सदैव छिपाने का प्रयत्न करता रहता है। मानव-चरित्र इतना सरल नहीं है कि वह अच्छे और बुरे के दो वर्गों में बंट जावे। नीचे से मनुष्य के हृदय मे कभी न कभी सद्भाव की प्रेरणा होती है और आदर्श चरित्र भी किसी न किसी दुर्बलता का शिकार बना रह जाता है। यदि मानव-चरित्र इतना जटिल न होता तो मानव मानव न रहकर या तो हिंसक पशु होता या उसमे देवताओ के ही गुण रहते, परन्तु मनुष्य मनुष्य ही है। उसमे जहा देवताओ के गुण विद्यमान हैं वहा हिंस्र पशुओ की क्रूरता और स्वार्थपरता भी उसमे है। इन दो असमान गुणो का भिन्न भिन्न समिश्रण से ही मानव चरित्र मे अनेक रूपता का सृजन होता है। बुराई और भलाई सब मे होती है लेकिन उसकी अधिकता और न्यूनता से ही हम महापुरुषो और खलो की प्रतिष्ठा करते हैं।

चरित्रों की यही समष्टि अन्तर्द्वंद की योजना करती है। यह अन्तर्द्वंद सदैव सब के हृदय मे चला करता है। सद्भाव मनुष्य को अपना सर्वस्व दुखियो की सेवा मे लुटा देने को कहता है, लेकिन मोह उसे अपने और अपने बच्चों के लिये रखने को कहता है। मानव-जीवन के ही साथ अन्तर्द्वंद का भी विकास हुआ था। अतएव मानवी चरित्र-चित्रण के लिये, जीवन की जटिल समस्याओं को प्रकाश मे लाने के लिये, इस अन्तर्द्वंद का चित्रण किसी न किसी सीमा तक आवश्यक है। सच्चा नायक वही है जो अपने बहिर्द्वंद पर विजयी तो हो ही लेकिन अपनी दुर्बलताओ को भी कर्त्तव्य-पथ से एक किनारे हटा दे। अन्तर्द्वंद और बाह्यद्वद दोनों मे विजयी होना ही इस जीवन की वास्तविक सफलता है। अपनी आपत्तियो के ढेर को तो पशु और नीच मनुष्य भी हटा लेते हैं।

स्कन्दगुप्त के चरित्रो मे यही एक सब से बड़ी महानता है। सभी के हृदयों मे लेखक ने कुछ न कुछ गुण-दोषारोपण किया है और इन्हीं के भिन्न-भिन्न योग के कारण ही हमे पुरगुप्त और स्कन्दगुप्त, भटार्क और

पर्ण, विजया और देवसेना तथा देवकी और अनन्तदेवी के दर्शन होते हैं। जयमाला मालव की रानी न रहकर स्वर्ग की देवी होती यदि वह अपना राज्य स्कंद को अर्पण करने में आनाकानी न करती। देवता तक तो अपने स्वार्थ के लिये लड़ते सुने गये हैं—फिर तो जयमाला इस संसार की एक साधारण रानी थी। सारा नाटक ही समाप्ति को आ जाता यदि स्कद सचमुच ही साधारण सैनिक ही बना रहना चाहता और शायद वह भारत का सम्राट् भी कभी न हो सकता यदि नीच भटार्क की सद्प्रेरणा उसे सत्पथ पर न लाती।

चरित्रो मे विकास

संसार का घटनाचक्र मनुष्य की इच्छाओं से स्वतंत्र चलता रहता हैं। मनुष्य उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है लेकिन मानो वह नियति का खिलौना ही है, जो उसे नित्यप्रति खेल खिलाती है। उसका और नियति का सदैव ही यह घात-प्रतिघात चला करता है। कभी नियति उसे किसी ऊंचे सिहासन पर बैठाती है तो कभी उसे किसी मार्ग मे भीख मागते हुए फिराती है। स्कन्द भी अपने भाग्य के साथ खेला था "चेतना कहती है कि तू राजा है और उत्तर मे जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है।" स्कन्द ही क्यों? भटार्क, देवसेना, विजया इसी प्रकृति के खिलौने मात्र ही रहे हैं। उनका वाह्यद्वंद घटनाचक्र के साथ चलता रहा और इस घात-प्रतिघात का प्रभाव उनके चरित्रो पर पड़ता रहा। यही वाह्यद्वंद्व ही मानव-चरित्र मे परिवर्तन करता है, जिसे हम नाटक मे चरित्र का विकास कहते हैं। स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण का यह एक आवश्यक अंग है। स्कन्द के सभी चरित्रो मे हम यह विकास पाते हैं। अपने बीजरूप से धीरे-धीरे विकसित हो नाटक की समाप्ति तक चरित्र अपने वास्तविक रूप मे दिखने लगते हैं।

अन्तर्द्वंद्व और चरित्रों के विकास के कारण ही स्कन्द के चरित्र वहुत ही स्वाभाविक हुए हैं। इसमे सन्देह नहीं कि नाटक मे चरित्रो

की संख्या अधिक है लेकिन नाटक विस्तृत होने के कारण प्रत्येक मुख्य चरित्र के आन्तरिक द्वंद्व और विकास की ओर नाटककार का ध्यान जाता रहा है। नाटक के मुख्य चरित्रों तक ही नाटककार का यह मनोवैज्ञानिक चित्रण सीमित रहा हो, यह बात भी नहीं है। उदाहरण के लिये हूणों के आक्रमणों से दुखी स्त्री-पुरुषों की यह दयनीय दशा देखिये। दुष्ट सेनापति की आज्ञा से बालकों को जलाया जानेवाला है। स्त्रियों के कोमल शरीरों पर जलते हुए लोहों के दाग लगने वाले हैं। भला ऐसी दारुण विपत्ति में भगवान के सिवाय और कौन सहायक हो सकता है? भगवान् तक अपनी करुण पुकार पहुँचाने के लिये, उनके हृदय में पीड़ित नागरिकों के लिये दया उत्पन्न करने के लिये एक दुखभरी आवाज ही काम में आ सकती है। नागरिकों के हृदय का दुख उछल पड़ता है, उनके हृदय की करुण भावना साकार हो व्यक्त होने के लिये स्वाभाविक रूप से कविता का ही आश्रय लेगी। गद्य में तो उसकी तीव्रता ही विलीन हो जावेगी, अतएव—

स्त्रियाँ—

हे नाथ

हमारे निर्बलों के बल कहां हो
हमारे दीन के सम्बल कहां हो

पुरुष—

नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या
सुना केवल यहां हो या वहां हो

स्त्रियाँ—

पुकारा जब किसी ने तब सुना था
भला विश्वास यह हमको कहां हो

प्रार्थना स्वाभाविक ही है, परन्तु स्त्री-पुरुषों की प्रार्थनाओं में भिन्नता है। स्त्रियों की निर्बलता आश्रय ग्रहण करने के लिये ही है, लेकिन पुरुषों को यह दयनीयता अपेक्षित नहीं। वह संसार का सब से श्रेष्ठ

प्राणी ही है। ससार मे अपने को सब से अधिक प्रभावशालीसमझने का उसे अभ्यास सा हो गया है, अतएव स्त्रियों ने पुकारा—

हमारे निर्बलों के बल कहां हो
हमारे दीन के सम्बल कहां हो

लेकिन जब भगवान् न आये तो पुरुष भगवान् के अस्तित्व पर ही हस्तक्षेप करने लगे—

नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या
सुना केवल यहां हो या वहां हो

कितनी छोटी सी बात है, लेकिन मनोविज्ञान ने स्त्रियों से ऐसी बाते कराने का साहस न किया होता। भगवान् की प्रार्थना प्रार्थना ही है। लेकिन प्रार्थना हृदय की उस भावुकता की अभिव्यक्ति है जो स्वयं मनुष्य के जीवन पर—उसके चरित्र पर अवलम्बित रहती है।

स्कन्दगुप्त

लालसा और कर्त्तव्य

स्कन्द नाटक का नायक है। मगध के राज्य का उत्तराधिकारी भी वही है। लेकिन अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम उसकी भविष्य की आशाओं पर पानी फेर दे रहा है। इसका एकमात्र उद्देश्य भारतवर्ष को फिर से एक साम्राज्य मे सम्बद्ध करना है। उसे हूणो के आक्रमणो से सुरक्षित करना है। वह साम्राज्य का एक सैनिक रहना चाहता है। लेकिन—? लेकिन सम्राट के रूप मे। साधारण सैनिक के रूप मे नही। सम्राट बनने का प्रलोभन उसके हृदय मे है, परन्तु अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये वह विद्रोह नहीं करना चाहता। उसकी सद्वृत्ति उसे सुमार्ग की ओर ही ले जाना चाहती है, पर हृदय की आकांक्षा दबाने पर भी नही दबती। वह अधिकार-सुख को मादक और सारहीन समझकर अपने हृदय को उससे विलग करने का प्रयत्न करता है। लेकिन **"उँह हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं"**

से उसके हृदय का वैराग्य न मालूम होकर उस प्रवृत्ति को टालने का
प्रयत्न ही दिखता है। युवराज का अकेले टहलकर केवल इस बात को
सोचना कि "अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को
नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती
है! उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप
मनुष्य क्या अच्छे हैं?" उसके आन्तरिक भावों का ही द्योतक है। यदि
युवराज वास्तव में इतने उदासीन थे तो उन्हें अधिकार का यह प्रश्न
उठाना ही न था। पुरगुप्त के लिए मंत्रणा चल रही थी। युवराज के
लिए तो यह सोने में सुगंध का मौका था। अन्तर्विद्रोह का कारण भी
न रहता, अधिकार सुख की मादकता भी न रहती और स्कन्द सैनिक
के रूप में अधिक काम कर सकता। परन्तु स्कन्द एक दुर्बल मनुष्य ही
तो है। अधिकार, मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु, वह कैसे ठुकरा सकता
था। अतएव उत्तराधिकार के अव्यवस्थित नियम ने स्कन्द के हृदय
में आँधी उठा दी है। यह भयानक तूफान भले ही न हो, लेकिन वह
इतना शान्त समीरण भी नहीं कि उसका प्रभाव प्रकृति पर न पड़े। यह
सच है कि स्कन्द पुरगुप्त के समान नीच प्रकृति का पुरुष न होता, वह
शायद साम्राज्य के विरुद्ध अन्तर्विद्रोह भी न करता, परन्तु यह सोचना
कि उसके हृदय में अभिलाषा की कोई वन्या नहीं एक भूल कल्पना
ही होगी। अस्तु।

स्कन्द इस आँधी को हटा देना चाहता है। लेकिन हटाये कैसे?
वह तो हृदय की गूढ अभिलाषा है। वैराग्य से? हो सकता है।
स्कन्द इसी उद्देश्य से प्रयत्न करता है, "अधिकार-सुख कितना मादक
और सारहीन है....." इसमें सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त अपने भावों
को इतनी अच्छी तरह से दबाये हुए है कि उन्हें कोई जान भी नहीं
सकता। वृद्ध पर्णदत्त सचमुच में स्कन्द को अपने अधिकारों के प्रति
उदासीन समझता है। वह कहता है—"सन्देह दो बातों से है, सम्राट
......अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में

नित्य नये-नये परिवर्तन ।" स्कन्द पहली बात को टाल देता है और चट दूसरी बात पर आ जाता है । वह पूछता है—"क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है ?"

वृद्ध पर्णदत्त से भले ही यह बात छिपी हो लेकिन उसके साथ रहने वाला, उसका समवयस्क चक्रपालित उसकी उदासीनता का कारण जानता है । पर्ण के पूछने पर वह कितना स्पष्ट उत्तर देता है ।

"पर्ण—तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं । वे पूछते है 'अधिकार किस लिए ?'

चक्र—तात, इस किस लिए का अर्थ मै समझता हूँ ।

पर्ण—क्या ?

चक्र—गुप्त-कुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम ।"

स्कन्द की भौहे टेढ़ी पड़ जाती हैं । उसके हृदय का भाव चक्र समझ कर व्यक्त करे, उसकी छिपी हुई आकाँक्षाओ का अवगुण्ठन वह उठाये, यह उसे पसन्द नही । वह पूछता है—

"चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?"

परन्तु चक्र को अपने अनुमान पर पूर्ण विश्वास है । वह कहता है—

"यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

मालव युद्ध के पश्चात् जब हम स्कन्द को चक्रपालित के साथ पाते हैं तो वह यही कहते हुए आता है, "चक्रपालित, संसार मे जो सब से महान् है, वह क्या है ? त्याग । त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है । प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है" स्कन्द इसी त्याग की ओर बढ़ना चाहता है । अपने हृदय की उस मूक अभिलाषा को वह अब त्याग के नाम से बहला देना चाहता है । जहाँ पहले वह अधिकार नियम को तुच्छ और सारहीन बतलाता था—उससे विरक्त होने का प्रयत्न करता था—वहाँ उसी विचार के दूसरे पहलू से वह त्याग को महान् समझता है । सचमुच मे अपना सब कुछ दूसरे के लिए त्याग देना ससार मे सब से महान् है । स्कन्द उसी आदर्श की ओर जाकर

अपनी अभिलाषाओं को भुलावा देना चाहता है। यह त्याग का आदर्श शायद वह बहुत दिनों से सोच रहा था। इस कारण प्रत्येक त्याग को वह इसी आदर्श की ओर झुकाना चाहता है। प्राणों का मोह त्याग करना ही वह वीरता का रहस्य समझता है। परन्तु क्या वास्तव में वीरता की यही परिभाषा है? दुःखी गरीब और पापी आदमी भी मृत्यु को अपना लेना चाहते हैं। स्कन्द जैसे वीर से वीरता की इतनी उथली परिभाषा हम स्वीकार नहीं कर सकते। इसका तो केवल यही एक उपयुक्त कारण हो सकता है कि स्कन्द अपनी अभिलाषाओं को भुलावा देना चाहता है। चक्रपालित के स्कन्द से यह पूछने पर कि "सिंहासन कब तक सूना रहेगा" स्कन्द अपने उच्चादर्शों को रखते हुए कहता है, "नहीं चक्र। अश्वमेध पराक्रम स्वर्गीय सम्राट कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा करना नहीं चाहता। मुझे सिंहासन नहीं चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है।" परन्तु क्या वास्तव में स्कन्द को अकेला जीवन पसन्द है यदि ऐसा होता तो अन्तर्विद्रोह ही क्यों होता। भटार्क का प्रण भी पूरा हो जाता और अनन्तदेवी की अभिलाषा भी सन्तुष्ट हो जाती। क्यों स्कन्द यह बखेड़ा खड़ा कर देता है? उसे किसी ने राज्य ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया वह क्यो पुरगुप्त को ही सम्राट नहीं रहने देता? आया हुआ अधिकार लौटाना आदर्श मे सरल किन्तु प्रत्यक्ष मे बहुत कठिन है। स्कन्द जिस आदर्श को अपनाने के प्रयत्न में लगा रहा वह अभी तक पा नहीं सका।

बन्धुवर्मा की इस उक्ति से कि 'उन्होंने पुरगुप्त को इस जघन्य अपराध पर भी मगध का शासक बना दिया है, वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते' स्कन्द के महान् आदर्श का ही पता चलता है। सचमुच मे पुरगुप्त के साथ स्कन्द ने दया का व्यवहार किया परन्तु पुरगुप्त को सम्राट ही क्यो न रहने दिया? बन्धुवर्मा के इस कथन से कि "वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते" यही पता चलता है कि

कम से कम परिस्थितियों के विचार से उन्होंने साम्राज्य का यह बोझ अपने ऊपर ले लिया है लेकिन वे परिस्थितियाँ कौन-सी हैं ? कम से कम नाटककार ने यह कहीं भी नहीं बताया । अतएव स्कन्द का यह कथन कि "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है" स्कन्द के अधिकारों के प्रति उदासीनता का परिचायक नहीं । अधिकार-प्रेम किसी न किसी अंश में उनके हृदय में विद्यमान था । और इसी कारण ही उन्होंने मालव का सम्राट होना भी अंगीकार किया था ।

राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् स्कन्द फिर इसी विचार में लग जाता है । श्मशान मे घूमते हुए वह कहता है, "इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति ? केवल मेरे अस्तित्व से । मालूम होता है कि सबके—विश्व भर की—शान्ति रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनंद से चला करता । परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला कहीं भी कामना की वन्या नहीं । बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है । केवल गुप्त सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया कलाप में संलग्न रखा है । कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है और न हँस ही सकता है । तब भी विजया..... ? ओह उसे स्मरण करके क्या होगा ।"

स्कन्द का यह स्वगत पिछले स्वगतों के ही अनुकूल है, अतएव यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं । हाँ, वैराग्य उत्पन्न होने का एक कारण विजया का प्रेम भी है और इस कारण ठुकराये हुए प्रेम के प्रभाव से हृदय में अशान्ति हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं हृदय की आशाओं पर पानी फिरते ही—कल्पना के स्वप्नों के भग्न होने पर—यदि एक सम्राट साम्राज्य को बोझ मानने लगे तो यह साम्राज्य के प्रति उदासीनता नहीं ।

पाँचवे अंक में कौमार्य व्रत धारण करने के पश्चात् स्कन्द

पुरगुप्त को युवराज ही घोषित करता है, उस समय भी स्कन्द साम्राज्य का भार पुरगुप्त को देकर सन्यास का मार्ग नहीं लेता। अतएव स्कन्द-गुप्त के हृदय में सम्राट बनने की अभिलाषा थी अवश्य, परन्तु वह प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उन झंझटो से विलग रहने का ही प्रयत्न करता है। कभी अधिकार सुख को मादक और सारहीन बताकर तो कभी त्याग को संसार में सबसे अधिक महत्व देकर। तब क्या स्कन्द पाखण्डी था? क्या वह अपने हृदय में दूसरे भाव रखकर दूसरों को धोखा देने की चेष्टा करता था? नहीं। अन्तर्विद्रोह के विरुद्ध होने के कारण, सिंहासन के लिए अपनी इच्छा प्रगट कर वह अपने साथियों को विद्रोह के लिए नहीं भड़काना चाहता। इसी लिए वह सभी को अपनी उदासीनता से परिचित करा देना चाहता है। इस मनोवृत्ति को वह अपने हृदय तक से निकाल देने का प्रयत्न करता है। इसी कारण ही वह चक्रपालित पर क्रोधित होता है। इसी कारण ही जब चक्र पूछता है कि "अयोध्या चलने का आपने कौन-सा समय निश्चित किया है? राजसिंहासन कब तक सूना रहेगा? पुष्यमित्रों और शकों के युद्ध समाप्त हो चुके है।" तब स्कन्द कहता है—

"तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो।"

"हाँ युवराज, मुझे यह अधिकार है।"

"नही चक्र। अश्वमेध पराक्रम स्वर्गीय सम्राट कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नही है। मै झगड़ा करना नहीं चाहता। मुझे सिंहासन न चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है।"

राष्ट्र की समस्या इस समय बड़ी विकट है। बन्धुवर्मा के ये भाव स्कन्द के भावो को अधिक व्यक्त कर रहे हैं "आर्य्यावर्त पर विपत्ति के प्रलय की मेघमाला घिर रही है। आर्य्य साम्राज्य के अन्तर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली-भाँति जान गये हैं। शीघ्र ही देश-व्यापी युद्ध की सम्भावना है।" इसीलिए साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए आर्यावर्त की स्वाधीनता के लिए वह अन्तर्विरोध की अग्नि नही

भड़काना चाहता। इसीलिए वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है। इसी अन्तर्विरोध को बचाने के लिए ही तो देशभक्त पृथ्वीसेन महाप्रतिहार ने अपना बलिदान दिया था।

"महाप्रतिहार! सावधान! क्या करते हो? यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है। पश्चिम और उत्तर से काली घटाएँ उमड रही हैं, यह समय बलनाश करने का नही है..... ...परन्तु भटार्क जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो उस काल भुजंगी राष्ट्रनीति की प्राण देकर भी रक्षा करना। एक नहीं, सौ स्कन्दगुप्त उस पर न्योछावर हैं।"

मगध का षड्यंत्र परिपक्व न होने पाया था कि अचानक स्कन्द वहाँ पहुँच गया। षड्यत्र टूट गया, भटार्क और अनन्तदेवी की इच्छा पूर्ण न हो पाई। वे, सेना द्वारा स्कन्द का सामना न कर सके अतएव स्कन्द के सम्राट होने मे कुछ भी रक्तपात का स्थान न रह गया। स्कन्द ने इसी लिए अपने को सम्राट घोषित कर दिया। बन्धुवर्मा का राज्य भी वह अपने साम्राज्य मे मिला लेता है क्योंकि वह तो पूरे आर्यावर्त का सम्राट होना चाहता था। स्कन्द का यह कथन कि "मैं केवल एक सैनिक बनकर रह सकूँगा सम्राट नहीं" केवल शिष्टाचार मात्र ही है।

देशप्रेम और विवेक

स्कन्द की अन्तर्विद्रोह से यह घृणा उसके देश-प्रेम का परिचायक भी है और स्कन्द का केवल साम्राज्य का एक सैनिक होने की इच्छा करना उस प्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण है। देश की चिन्ता उसके जीवन की सबसे बडी चिन्ता है। आर्यावर्त की दयनीय दशा उसके हृदय को व्यथित किये है। लेकिन वह साधारण सैनिक ही नहीं। आत्मत्याग, उदारता और बलिदान की वह साक्षात् मूर्ति ही है। कर्तव्यनिष्ठ होना कर्मण्य होने की प्रथम सीढ़ी है। केवल संधि नियम ही नहीं शरणागत् रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। अतएव यदि समस्या कठिन भी है तो क्या? "अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के

लिए सन्नद्ध है। जाओ निर्भय-निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।" सचमुच मे "आर्य्य साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है" अन्यथा सम्राट का कार्य ही क्या—यदि वह भीषण परिस्थितियो मे पड़कर केवल अपना ही भला देखे और अपने अधीनस्थ राजाओ की समस्या सुलझाने मे असमर्थ रहे। स्कन्दगुप्त की यह उक्ति सचमुच वीरोचित ही है। ऐसे शासक को पाकर सचमुच मे ही गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होगी। अपने वचन के समान ही वह कर्म करने मे भी साहसिक और वीर है। थोड़ी-सी सेना को लेकर हूणो और शको की विजय को पराजय मे परिणत करना उसी का ही काम है। कूट मंत्रणाओं और राजनैतिक कुचक्रो से भी स्कन्दगुप्त खूब परिचित है। प्रत्येक परिस्थिति का धैर्य और विवेक से सामना करना ही नायक का काम है। चन्द्रगुप्त के समान वह थोड़ी-सी कठिनाइयों से घबड़ा नहीं जाता। गान्धार की घाटी और कुभा रणक्षेत्र में उसकी कार्यपटुता देखते ही बनती है। चक्रपालित और स्कन्दगुप्त समवयस्क होते हुए भी अपने चरित्रों में कितने भिन्न हैं? चक्रपालित मे यौवन का जोश है। विवेक नहीं, वह परिस्थितियों से पूर्ण परिचित भी नहीं हो सकता है। यदि स्कन्दगुप्त के स्थान पर कही चक्रपालित होता तो शायद कुभा रणक्षेत्र मे युद्ध होने के पूर्व ही भटार्क विद्रोही बन बैठता। लेकिन स्कन्दगुप्त परिस्थितियो को देखकर कार्य करता है और इसी कारण वह किसी सीमा तक सफल हो सका है। "मै भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं परन्तु उस पर प्रगट रूप से अविश्वास करने का भी समय न रहा।" मे "नहीं सम्राट उसे बन्दी कीजिये" की अपेक्षा कितनी विवेकशीलता है। स्कन्द और भटार्क का वार्तालाप भी सम्राट और उसके सेनापति का ही वार्तालाप है। स्कन्द अपने अधिकारों और स्थिति का पूर्ण ध्यान रखकर ही सम्राटोचित वार्तालाप करता है। भटार्क की अवहेलना करने पर भी—"तुम अभी बालक हो" वह उसे क्षमा ही कर देना चाहता है। लेकिन

चक्र ? उसमे इतना विवेक कहाँ ? भटार्क यद्यपि स्कन्द को बालक ही समझता है, लेकिन उसके वाक्-चातुर्य के सामने उसे भी नत मस्तक हो जाना पड़ता है। भटार्क की निकलती हुई तलवार म्यान में ही रह जाती है। भटार्क के प्रस्थान के पश्चात् उसकी कार्य-प्रणाली उसकी दूरदर्शिता का बहुत सुन्दर परिचय देती है।

प्रेम

स्कन्द का प्रेम भी उसके स्वभावानुकूल गंभीर है। उसमें उच्छृङ्खलता या चचलता नहीं। मालव युद्ध मे विजया ने मिलते ही उसके वीर हृदय मे उस सुन्दरी के लिए प्रेमोदय हो गया था, लेकिन भावी सम्राट के लिए प्रेम के भाव अपने हृदय में ही बाँध रखना शोभा देता है—(विशेषकर जब देश की परिस्थिति शृंगार के लिए अनुकूल न हो)। विजया—उसकी प्रेयसी भी वह न जान पाई—खैर उसकी अज्ञानता क्षम्य भी है परन्तु देवसेना ? वह तो सन्देह के गर्त मे ही रही आई। सम्राटाभिषेक के समय विजया जब भटार्क को वरण कर चुकी तो स्कन्द के हृदय मे एक हलचल मच गई—वह अशान्त हो गया—लेकिन उसकी गभीरता ने उसे मौन ही रखा। स्कंद की प्रेमवञ्चित अशाति के परिचायक के साथ ही साथ उसकी गंभीरता और सम्राटोचित भाव-प्रदर्शन का यह दृश्य बड़ा सुन्दर है।

"स्कन्द—और तुम विजया ? तुम क्यों इससे—

देवसेना—सम्राट ! विजया मेरी सखी है।

विजया—परन्तु मैने भटार्क को वरण किया है।

जयमाला—विजया !

विजया—कर चुकी देवी।

देवसेना—उसके लिए दूसरा उपाय न था राजाधिराज ! प्रतिहिंसा मनुष्य को इतने नीचे गिरा सकती है ! परन्तु विजया, तूने शीघ्रता की।

(स्कन्द विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है।)

गोविन्द—यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है। भटार्क के नीच कर्मों से दुखी होकर यह उज्जयनी चली आई है।

स्कन्द—परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया ?

देवसेना—(स्वगत) आह ! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है। विजया आज तू हारकर भी जीत गई।

देवकी—वत्स ! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक मे एक बूंद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की भी यह मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन-दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सब के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।"

स्कन्द का मन फिर राजकार्य मे नहीं लगता वह केवल "जैसी माता की इच्छा" कहकर राजसभा समाप्त कर देता है।

स्कन्द के हृदय मे केवल विजया के लिए ही स्थान था। देवसेना के लिए नहीं। अपना कर्तव्य देखकर ही वह देवसेना की ओर झुका था।

स्कन्द०—देवसेना, आज मैं बन्धुवर्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूँगा ? जिसने निस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा ?.. . साम्राज्य तो नही है, मैं बचा हूँ, वह अपना ममत्व तुम्हे अर्पित करके उऋण होऊँगा, और एकान्तवास करूँगा।

देवसेना—सो न होगा सम्राट ! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट् ! देखो, यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी सी समाधि है, उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिए।

स्कन्द०—देवसेना ! बन्धु बन्धुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी।

देवसेना—परन्तु क्षमा हो सम्राट् ! उस समय आप विजया का स्वप्न देख रहे थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित

न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।

स्कन्द का देवसेना के प्रति प्रेम कर्त्तव्य के रूप में ही है। और इस रूप में उसका चरित्र अधिक आदर्शमान् है। आगे चलकर यह कर्त्तव्य-प्रेम अवश्य ही सच्चा प्रेम बन जाता, और उससे उसके हृदय की उच्छृङ्खलता नहीं मालूम होती।

देवसेना

देवसेना का चरित्र प्रसाद जी की एक अलौकिक भेंट है। प्रकृति की गोद में पली हुई वनदेवी के मूक प्रणय की यह करुण कहानी है। देश और प्रेम के लिए जिसका उत्सर्ग पारिजात के फूल से भी कोमल, हिमालय से भी महान् और वेदना से भी कठोर रहा हो, जिसने कोयल के मधुर संगीत से अपनी वेदना का स्वर मिलाकर हृदय में क्रन्दन मचाने वाले संगीत की रचना की हो, आई हुई थाती को—वर्षों के मीठे स्वप्नों के साकार स्वरूप को—कल्पना की मीड़ों द्वारा पाली हुई आकांक्षाओं के सुफल को—वापिस लौटा दिया हो, उसी बाला का यह सौम्य सुन्दर चित्र है। पति-परायण सती जयमाला के मधुर प्रेम ने आलोकित, उदार हृदय बंधुवर्मा के सुखी कुटुम्ब में ही इस बालिका का चरित्र निर्मित हुआ था। जिसे प्रकृति के संगीत ने अपने जीवन को संगीत की तान बनाने की शिक्षा दी थी, उस बालिका का—उस देवसेना का—चरित्र हिमकिरणों से भी उज्ज्वल, शिशु से भी सरल, सावित्री सा आदर्शमान् और प्रकृति सा ही नियामक होना स्वाभाविक है। उसमें विजया के हृदय की उच्छृङ्खलता नहीं, जो महत्त्वाकांक्षा का पुजारी रहे; उसमें विजया की भीरुता नहीं, जो कटारी को हृदय पर रखने में भयानकता समझे, उसमें विजया का स्वार्थ नहीं, उथला देश-प्रेम नहीं, प्रेम क्रय करने की इच्छा नहीं। देवसेना का चरित्र विजया के चरित्र के विरोधी उपकरणों की संसृति है। देवसेना की निर्मल

ज्योति को और भी अधिक दीप्तमान् करने के लिए ही विजया के चरित्र के गहन अंधकार का सृजन हुआ है। पाप के समकक्ष ही पुण्य का आलोक पूर्ण रूप से विकसित होता है—रात्रि में ही शशि राका के शीतल सौंदर्य मे हम चकित होते हैं। विजया और देवसेना का सम्पर्क भी आलोक को और भी अधिक दीप्तमान् करने को है।

संगीत और प्रकृति

प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य में जब पहली बार हमें इस प्रेम-प्रतिमा के दर्शन होते हैं तो उसका सच्चा चरित्व हमें मुग्ध कर लेता है। युद्ध के समय भी गान ? जिसका पूर्ण जीवन ही संगीतमय हो गया हो, जो प्रकृति की प्रत्येक क्रियाओं में एक तान, एक लय सुना करती है उसे युद्ध क्या ? और प्रेम क्या ? जब प्रकृति ही सगीतमय है तो उसके दो रूप युद्ध और प्रेम दोनों सगीतमय हैं। जिसने यह संगीत न सुना, जिसने उस लय में अपना स्वर न मिलाया उसका जीवन भी सार्थक न हुआ। जिसने इस विश्ववीणा के स्वर से अपना स्वर विकृत रखा वह क्या प्रकृति का अनुगामी है ? वह प्राकृतिक होकर भी कृत्रिम है। "विना गान के कोई कार्य्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है" जिसने सुना नही उसका दुर्भाग्य। देवसेना कल्पना लोक की देवी है जिसे प्रत्यक्षवाद कभी की क्रूर दृश्यो की ओर नहीं ले जाता। वह दूर आकाश मे एक स्वर्ण रश्मि के समान, मूक प्रेम का मादक गान करती हुई हमारे सामने से निकल जाती है। हम उसे देखते हैं, सुनते हैं, देखकर सुनकर चकित होते हैं और फिर उसे इहलोक का वासी जान उसके सामने श्रद्धा से शिर झुका लेते हैं। उसने अपना जीवन ही प्रकृति के परिमाणुओं मे मिला दिया है—भयंकर प्रलयकारिणी प्रकृति के रूप में नहीं—सौम्य सरल सुखदा प्रकृति माँ के स्वरूप मे। उसने अपना स्वर उसी की वीणा में मिला दिया है। अतएव प्रकृति के समान ही वह हमारी पूजा की—श्रद्धा की—

देवी बन जाती है। वनदेवी के समान ही वह अपने अस्तित्व को मानवी जगत से भिन्न रखे है। विजया से वह कहती है, "विजया, प्रकृति के प्रत्येक परमाणु के मिलन में एकसम है, प्रत्येक हरी हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है। इसी से तो उसका स्वर विश्ववीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पाण्डित्य के मारे जब देखो जहाँ देखो, बेताल बेसुर बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी चहचह कलकल छलछल में, काकिली में, रागिनी है" प्रत्यक्षवाद और भौतिकवाद के पुजारी उसे क्या समझेंगे। विजया पूछती है, "राजकुमारी क्या कह रही हो?" देवसेना तो उसी प्राकृतिक संगीत का स्वर होकर अपने ही आलाप मे मुग्ध हो कहती ही जा रही है। उसे श्रोताओं की आलोचना मे क्या?

देवसेना—तुमने एकान्त टीले पर, सबसे अलग शरद के सुन्दर से फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ पारिजात वृक्ष देखा है

विजया—नहीं तो।

देवसेना—उसका स्वर अन्य वृक्षों से नही मिलता, वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटकाकर ताली बजाकर, झूम झूमकर नाचता है। अपना नृत्य अपना संगीत वह स्वयं देखता है—सुनता है। उसके अन्तर मे जीवन शक्ति वीणा बजाती है। वह बडे कोमल स्वर से गाता है—

घने प्रेम तरु तले।"

प्रेम

लेकिन देवसेना कोई वनदेवी नही, कोई सुरबाला नही। वह भी इसी संसार की एक सरल हृदय रमणी है। उसने प्रेम करना भी सीखा है परन्तु उसका प्रेम मानवीय स्वार्थ का प्रेम नहीं। जो अपने प्रेमी को अपने अन्तराल मे छिपाने का प्रयत्न करता है। यदि प्रेम सचमुच मे परमात्मा है तो वह प्रेम के उत्सर्ग, बलिदान और त्याग मे ही वास

करता है क्रय करनेवाले प्रेम में नहीं—अपने को वेचकर उसके वदले में कुछ रखने की इच्छा में नहीं। जव हमने ही अपना सारा अस्तित्व तुम्हीं को अर्पित कर दिया, जव हमारा स्वयं ही कुछ न बचा तो तुमसे किसके लिए कुछ माँगूँ। तुमको पाना भी तो व्यर्थ है। प्रेम की चरम सीमा शरीर का नहीं आत्माओं का मिलन है। उसी को भक्त लोग मोक्ष और प्रेमी प्रेम कहता है। आत्मसमर्पण ही यदि प्रेम है तो फिर उसमे स्वार्थ कहाँ, अपनत्व कहाँ? इसी कारण प्रेम सदैव एक के लिए होता है। दो से होने वाला प्रेम, प्रेम न रह कर वासनामात्र ही रह जाता है। विजया और देवसेना के प्रेम में यही अन्तर है। एक प्रेम परमात्मा का स्वरूप है और स्वर्ग की सृष्टि करता है। दूसरा अपनी भौतिक और शारीरिक अभिलाषाओं को पूर्ण करने का साधन-मात्र ही है।

"जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है और वह इसी लोक मे मिलता है। जिसे नहीं मिला वह संसार में अभागा है।"

कारुण्य

प्रेम की केवल एक इच्छा होती है। वह चाहता है कि उसका देवता उसकी पूजा को—उसकी भेंट को स्वीकार कर ले। अन्य पुजा-रियों से उसे कोई द्वेष नही। परन्तु यदि उसकी भेंट की उपेक्षा होती है—यदि उसकी भेंट ठुकरा दी जाती है तो उसका हृदय काँच के समान ही थोड़े से आघात से टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। उसकी सारी अभिलाषाएँ, सारी इच्छाएँ ही विलीन हो जाती हैं। उसका जीवन से और उसके सुख से फिर कोई भी सम्बन्ध नही रहता। उसे सिद्धि से ही क्या और ईश्वर से ही क्या?

"परन्तु मुझे सिद्धि से क्या प्रयोजन? जब मेरी कामनाएँ विस्मृति

के नीचे दबा दी गई हैं तब वह स्वयं चाहे ईश्वर ही हो तो क्या ?"

"विस्मृति" की इसी वेदना ने देवसेना के जीवन में करुणता ला दी है। मीठी संगीत की तान जब करुण रस की धारा बहाती है तो हमारे हृदय को हिला देती है। हमारे अस्तित्व को ही कुछ क्षणों के लिए भुला देती है। इसी कारण से ही शायद वागेश्वरी इतनी सर्वप्रिय है। वागेश्वरी की करुणता भले ही उतनी लोकप्रिय न हो, लेकिन जब वह देवसेना के रूप में प्रगट होती है तब कोई भी ऐसा नहीं जो उसके सामने अपने को विस्मृत न कर दे। देवसेना के सर्वप्रिय होने का यही रहस्य है।

तृतीय अंक में जहाँ देवसेना और उसकी सखियों का परिहास हम उपवन में देखते हैं, वहाँ देवसेना का दारुण दुख फूट कर निकल पड़ता है। हँसमुख चेहरे पर उदासी की झलक दिखाई दे जाती है। जयमाला कहती है—

"तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता। जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।"

हास्य और करुण के इस सम्मेलन ने इस दृश्य को और भी अधिक करुण बना दिया है। इसी कारण से ही देवसेना की पीड़ा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं, फिर भी हृदय के उफान को दबाने का प्रयत्न कितना सुन्दर है।

त्याग

त्याग तो मानों उसके चरित्र में मूर्तिमान् होकर ही आ गया है। विजया के लिए तक वह अपने सर्वस्व को लुटा देना चाहती है। विजया स्कन्द को प्रेम करती है तो अच्छा है, भगवान के तो अनेकों पुजारी होते हैं। सच्ची पूजा से ही तो भगवान् प्रसन्न होते हैं। विजया के कारण ही देवसेना अपने प्रेम को अपने अन्तस्तल में ही छिपाये

रही। प्रेम तो हृदय की मनोवृत्ति है, उसे स्पष्ट करने से क्या लाभ ? फिर भी आशा और निराशा की हिलोरे मुख पर सुख और दुख की रेखाएँ अंकित कर ही देती हैं। विजया चक्र की ओर आकृष्ट हुई। देवसेना की आशा मे फूल लगना प्रारंभ हो गया। उसका स्वर्ग शायद उसे मिल जावे, फिर भी कितना अस्पष्ट उल्लास है। विजया बेचारी देवसेना के सुख को कैसे जान सकती है ? वह तो उसके हृदय का स्रोत था, जो हृदय मेरु में मॅडराता हुआ संगीत के छोटे से झरने मे बाहर निकल पड़ा था।

आत्मसमर्पण ही तो मोक्ष है। त्याग से ही तो ईश्वर मिलता है। देवसेना इसी त्याग की कितनी सुन्दर व्याख्या करती है—उसकी संगीत-रुचि ने त्याग को भी संगीतमय बना दिया है। "भाभी, सर्वात्मा के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल मे अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है। क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भइया को देखो – कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र !"

उसके हृदय की इच्छा है कि वह भी पूजा कर सके, लेकिन वह विजया को हटाकर नहीं। विजया ने भूल की, देवसेना उसकी भूल को सुधारना चाहती है। उसे उसकी भूल बताना चाहती है—अपना अनुराग—अपना स्वार्थ नहीं।

"क्या जो तुमने किया है उसे सोच समझ कर ? कहीं तुम्हारे दम्भ ने तुमको छल तो नहीं लिया ? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें विपथगामिनी तो नहीं बना दिया ?

\+ \+ \+

शीघ्रता करनेवाली स्त्री ! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक। देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती......। अच्छा इससे क्या ?"

उसे सबसे अधिक दुःख इस बात का है कि विजया उसके प्रेम को इतना साधारण समझती है। वह विजया के स्थान को मोल लेना

नही चाहती थी, इसी कारण कापालिक के समीप अपनी मृत्यु जानकर वह कहती है—

"परन्तु कापालिक, एक और भी इच्छा मेरे हृदय में है वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नही हूं। केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि ग्रहण न करूँगी। उसे भ्रम है यदि वह छूट जाता।"

देवसेना के दुख को पूर्ण विरह-दुख समझना भूल ही होगा। उस आत्माभिमानिनी को अपने प्रेम का मूल्य हलका होना सबसे अधिक खटकता है। जिसके भाई ने देश-प्रेम के कारण अपने देश को निस्वार्थता से त्याग दिया हो उसके त्याग को स्वार्थ के रूप में देखना उसे असह्य था। वह अपने प्रेम का मूल्य नहीं रखना चाहती थी। वह प्रेम क्रय न करना चाहती थी। इस कारण मालव के त्याग ने उसकी आशाओं को पानी मे डुबा दिया। देवसेना के उत्तर मे कितना व्यङ्ग और कितना दुख भरा हुआ है।

प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है। क्यों ? कहूं ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का व्याह किया जा रहा है।" लेकिन सखियाँ उसकी मार्मिक पीड़ा को क्या समझतीं। उन्हे हँसी सूझती ही गई। दुख असह्य हो गया—"क्यों घाव पर नमक छिड़कती है ? मैने कभी उनसे प्रेम चर्चा करके उनका अपमान नही होने दिया है। नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय मे रुदन का स्वर उठता है तभी संगीत की वीणा मिला देती हूँ। उसी में सब छिप जाता है। (आँखों से आँसू बहाता है।)

१ सखी—है—है, क्या तुम रोती हो ? मेरा अपराध क्षमा करो।

देवसेना—(सिसकती हुई) नही प्यारी सखी ! आज ही मै प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ। बस फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनंत स्वर्ग का सृजन करेगा।

२ सखी—तुम्हें इतना दुख है मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी।

देवसेना—(सम्हलकर) यही तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है, मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि भड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ सखी, फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हालकर स्वस्थ हो कर बैठती हूँ।"

३ सखी—आश्चर्य ? राजकुमारी ! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है।

देवसेना—कूलों में उफनकर बहनेवाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा। परन्तु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।"

प्रेम, वेदना और त्याग का कितना स्पष्ट चित्रण इस दृश्य मेहुआ है। प्रसाद के महान् दृश्यों मे से यह भी एक दृश्य है।

काव्य

कुछ लोगों के विचार मे प्रेम और विरह ही लोगों को कवि बना देते हैं। दूसरे कवियों के उदाहरण मे यह बात भले ही सच न हो परन्तु देवसेना की भावव्यक्ति किस कविता से कम रह जाती है ? वह स्वयं एक काल्पनिक लोक की रमणी है, कल्पनामय उसका जीवन है। क्षण-क्षण पर उसकी कल्पना सुन्दर चित्रों की व्यवस्था करती जाती है। मूक प्रणय की निष्ठुर पीड़ा ने उसके भावों को और भी अधिक तीव्र कर दिया इसलिए ये भाव बिना कल्पना के सहारे शायद स्पष्ट ही न हो सकते। इसी कारण ही देवसेना का वार्तालाप काव्य रूप मे प्रवाहित होता है। उसका सारा जीवन ही कवितामय हो गया है। वह सोचती है लेकिन उसके भाव काव्य के अनंत स्रोत मे बह रहे हैं।

संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदानकी एक क्षीण गंध धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति—मेरा क्षुद्र नारी जीवन ? मेरे प्रिय गान ? अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ ? इस बार-बार के गाये हुए गीतों से क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है ! केवल सुनने की ही नहीं प्रत्युत उसके साथ अनंतकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है ।" अस्तु ।

देवसेना ने अपने इसी आत्माभिमान के कारण ही अपने आये हुए धन को लौटा दिया । वह अपने स्वार्थ के लिए भाई की उदारता को क्रय मे परिवर्तित नहीं करना चाहती ।

"देवसेना—सो न होगा सम्राट ! मै दासी हूँ । मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी । सम्राट देखो यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिये ।

स्कन्द—देवसेना, बन्धु बन्धुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी ।

देवसेना—परन्तु क्षमा हो सम्राट ? उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूँगी । मै आजीवन दासी बनी रहूँगी; परन्तु आपके भाग्य में भाग न लूँगी ।"

वैराग्य

देवसेना का त्याग विजया की उच्छृंखलता से कितना भिन्न है—कितना गौरवपूर्ण है । अपने स्वार्थ के लिए वह अपने कर्तव्य से नहीं हटना चाहती—"आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी ।" देवसेना का वह त्याग कितना प्रेमपूर्ण है, कितना ऊँचा है । जिसके लिए वह अपने जीवन भर स्वप्न देखती रही—उसी द्वार

पर आये हुए भिखारी को वह लौटा रही है। विजया के समान इसमे प्रतिहिंसा नहीं। यह प्रेम की ही चरम सीमा है जहाँ अपने प्रेमी के सुख और आदर्श के लिए अपने सर्वस्व की तिलाजलि दे दी जाती है।

"सम्राट् क्षमा हो। इस हृदय से...आह कहना ही पड़ा। स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर मे फँसाकर कलुषित न कीजिये। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैने अपने को वचन दे दिया है अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।"

कर्तव्य करने मे महान् सुख है, परन्तु वह आदर्श सुख इस लोक मे नहीं, उस लोक मे मिलता है। जीवन भर की आकाक्षाओं का त्याग कर देना महान् बलिदान है। जहाँ सब कुछ अपने देवता को अर्पण कर दिया जाता है, जहा अपना निज का कुछ नहीं, वहा स्वयं वैराग्य की भावना-सी जागृत हो जाती है।

"हृदय की कोमल कल्पना! सोजा। जीवन मे जिसकी संभावना नहीं जिसे द्वार पर आये लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा सब से मैं विदा लेती हूँ।" इसी वैराग्य भाव से उत्पन्न देवसेना की यह युक्ति क्या किसी महात्मा की उक्ति से कम है?

"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्, यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है जिसमें सुखों का अन्त न हो इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता! उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!"

देवसेना के चरित्र के इसी विकास के कारण नाटक की समाप्ति शान्त रस मे होती है। प्रारभ मे जो कुछ भी स्वार्थ का अश था। परिस्थितियों की महान् अग्नि मे तपकर वह परमार्थ के रूप मे पूर्ण रूप से चमकने लगा। जहाँ केवल विजया का प्रश्न था वहाँ वह बन्धुवर्मा, देश और प्रियतम के प्रति कर्तव्य का प्रश्न बन गया।

भटार्क

अभिमान

"महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता में रहता है।"

—चन्द्रगुप्त में चाणक्य

भटार्क का चरित्र स्कन्द और देवसेना के चरित्रों के समान जटिल नहीं है, वह एक कर्तव्यनिष्ठ देश-प्रेमी, स्वामिभक्त और सत्यप्रतिज्ञ व्यक्ति है। यदि उसमें कोई दोष था तो वह थी उसकी महत्वाकांक्षा। महत्वाकांक्षा तो संसार के सभी व्यक्तियों में पाई जाती है क्योंकि उसी पर उन्नति का लालसा अवलम्बित है। परन्तु यदि अपने स्वार्थ के लिए सत्पथ त्याग दिया जावे तो मनुष्य के लिए सचमुच एक विकट समस्या आ जाती है। महत्वाकांक्षा के साथ ही साथ भटार्क में एक प्रकार का दम्भ भी था। उसे कुछ कर गुज़रने की बड़ी लालसा थी। वह साम्राज्य के भावी शासकों का नियामक बनना चाहता था और इसी दम्भ और महत्वाकांक्षा के कारण उसे अपना सत्पथ त्याग देना पड़ा।

भटार्क को अपने बाहुबल पर पूर्ण विश्वास था, वह स्वयं को एक महान् वीर समझता था पर यह उसका दम्भ ही था।

"बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है। मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा।" लेकिन इस माननीय पद पाने में अनंतदेवी का हाथ था। पृथ्वीसेन के समान बुद्धिमान अमात्य ने इसका विरोध किया था और भटार्क का यह कथन—"यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है।" वास्तव में अनन्तदेवी की चापलूसी नहीं है; क्योंकि भटार्क इस प्रकृति का पुरुष नहीं जो व्यर्थ ही दूसरों का कृतज्ञ होने के लिए तैयार हो। उसके दम्भ में शिष्टाचार के लिए स्थान नहीं। भटार्क का दम्भ उसकी प्रत्येक बात में टपकता है। अनन्तदेवी को आश्वासन देते हुए वह

कहता है—"धैर्य रखिये । इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास कीजिये।" "अर्द्धरात्रि में निस्सहाय अबला महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुसने-वाला चोर" जब स्कन्द द्वारा तिरस्कृत होता है तो भटार्क अपने स्वाभाविक गर्व से कहता है—"राजकुमार, वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिए।"

क्या भटार्क वास्तव में वीर था? उसकी वीरता का सन्देह कई बातों से होता है, (१) पृथ्वीसेन जैसे वृद्ध और अनुभवी अमात्य का उसके महाबलाधिकृत बनने में आपत्ति डालना, (२) स्कद से द्वंद्व-युद्ध मे हारना; गोविन्दगुप्त जैसे वृद्ध भी उसकी तलवार आसानी से छीन लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुमारगुप्त की हत्या के समय उसने खूब होशियारी से काम लिया है, लेकिन इसमें उसकी वीरता नहीं कार्य-पटुता ही मालूम होती है।

महत्वाकांक्षा

दम्भ के साथ ही साथ भटार्क की महत्वाकांक्षाओं ने उसको मनुष्य से पशु बना दिया। उसकी अभिलाषा साम्राज्य के सर्वोच्च पद पर पहुँचने की है। कुमारगुप्त के सामने भी उसने सौराष्ट्र के सेनापति बनने की इच्छा प्रगट की थी, परन्तु वह फलवती नहीं हुई। उसी पद को पाने के लिए वह सदैव प्रयत्न करता रहा। वीरता के दम्भ ने उसे और भी अन्धा बना दिया। अपने ही प्रयत्नों से वह उच्चपदासीन होना चाहता है। कभी-कभी यह लालसा उसे सत्पथ से भी अलग कर देती है—"मैं सज्जनता का स्वांग नहीं ले सकता, मुझे यह नहीं भाता। मुझे जो कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।" शर्व को भी वह अपने कुचक्रों में भविष्य के सुखों को सामने रखकर घसीटना चाहता है। भविष्य के भौतिक सुखों के लिए वह समझता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य से विचलित हो जावेगा—"शीघ्रता न करो शर्व! भविष्यत् के सुखों से

इसकी तुलना करो ।"

स्वामिभक्ति

यदि भटार्क मे ये दो दोष न होते तो सम्भव है वह स्वामिभक्त, चरित्रवान् और गुणसम्पन्न व्यक्ति होता । वह गम्भीर है और सद्गुणों का पुजारी । पृथ्वीसेन महाप्रतिहार और दण्डनायक की मृत्यु के बाद जहाँ पुरगुप्त उन्हे पाखण्डी समझकर तिरस्कार से देखता है वहाँ भटार्क को इन स्वामिभक्त सेवकों की मृत्यु से दुःख होता है । वह सोचता है उससे कुछ भूल हो गई है ।

"पुरगुप्त—पाखंड स्वयं बिदा हो गये । अच्छा ही हुआ ।
भटार्क—परन्तु भूल हुई । ऐसे स्वामिभक्त सेवक......।"

अच्छे गुणों को परखनेवाला, उनकी सराहना करनेवाला स्वयं गुणी होता है । वह भी कभी उस आदर्श को अपनाने का प्रयत्न करता है । यही चरित्र मे सुधार होने की आशा रहती है । उपर्युक्त दोषों से शून्य होने पर वह भी इन्ही अमर आत्माओं के समान स्वामिभक्त होता, परन्तु भविष्य के काल्पनिक सुखों की आशा ने उसे घृणित और निंदनीय कार्य करने का साधन बनाया । पुरगुप्त के जाने के एक क्षण पश्चात् ही वह कह उठता है—"तो जायँ सब जायँ, गुप्त साम्राज्य के हीरों से उज्जवल हृदय वीर युवकों का शुद्ध रक्त सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों ।"

इसी तरह प्रत्येक कुकर्म करने के पूर्व भटार्क की सद्बुद्धि उसे सजग करती है । वह कुचालों से दूर रहने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है, परन्तु दम्भ और महत्वाकाक्षा के कारण वह सदैव विचलित हो जाता है । महादेवी देवकी के वध करने के प्रस्ताव का उसने समर्थन किया परन्तु उसका विवेक इसके विरुद्ध है । वह शर्वनाग के समान कर्तव्य-निष्ठ भले ही न हो परन्तु उसके समान उसके हृदय मे भी पाप करने के पूर्व एक घृणा पैदा होती है । वह प्रपंचबुद्धि के प्रस्ताव से स्वयं

चकित होता है। वह उससे पूछता है—"परन्तु महास्थविर, क्या इसकी अत्यंत आवश्यकता है?" लेकिन प्रपच उसका धर्मगुरु है जिसकी आज्ञा का पालन वह कर्तव्य से भी अधिक महान् समझता है। प्रपच इसकी नितांत आवश्यकता समझता है और भटार्क भी इसमे अपना भावी सुख देखकर तयार हो जाता है।

अन्धविश्वास

भटार्क अन्धविश्वासी भी बहुत है। प्रपंचबुद्धि का जादू उसके ऊपर पूरा प्रभाव कर चुका था। अनन्तदेवी का उस क्रूर पाखंडी का परिचय उसके हृदय मे विश्वास जमा देता है—

"सूचीभेद्य अन्धकार में छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का, प्रज्वलित कठोर नियति का—नील आवरण उठाकर झाँकनेवाला। उसकी आँखों मे अभिचार का संकेत है, मुस्कराहट में विनाश की सूचना है। आँधियों से खेलता है, बातें करता है, बिजलियों से आलिंगन।"

भटार्क एकदम अनुचर बन जाता है। ऐसा भयकर मनुष्य सचमुच संसार मे उथल-पुथल मचा देगा। भटार्क के ऊपर प्रपंच के आगमन, वार्तालाप और प्रस्थान का पूरा प्रभाव पड़ा—

"महादेवी, यह भूकम्प के समान हृदय को हिला देने वाला कौन व्यक्ति है? ओह! मेरा तो सिर घूम रहा है।

यही तो भिक्षु प्रपंचबुद्धि हैं।

तब मुझे विश्वास हुआ। यह क्रूर, कठोर नर पिशाच मेरी सहायता करेगा। मैं उस दिन के लिए प्रस्तुत हूँ।"

प्रपंच की अलौकिक शक्ति के विषय में भी भटार्क का पूर्ण विश्वास था। प्रपंच और शर्वनाग के लड़खड़ा कर गिरने पर—

"शर्व—बड़ी चोट आई।

प्रपंच—परन्तु परिणाम अच्छा हुआ। तुम लोगों पर भारी आपत्ति आने वाली थी।

भटार्क—क्या वह टल गई ? (आश्चर्य से देखता है)

शर्व—क्यों सेनापति टल गई ?

प्रपंच—उस विपत्ति का निवारण करने के लिए ही मैंने यह कष्ट सहा। मैं तुम लोगों के भूत, भविष्य और वर्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूँ। जाओ अब तुम लोग निर्भय हो।

भटार्क—धन्य गुरुदेव !

शर्व—आश्चर्य !

भटार्क—शंका न करो, श्रद्धा करो। श्रद्धा का फल मिलेगा। शर्व अब भी तुम विश्वास नहीं करते ?"

संभवतः भटार्क का यह आचरण शर्वनाग को चंगुल में फँसाने के लिए समझा जावे। परन्तु अन्य अवसरों पर हम भटार्क की इसी प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से देखते हैं।

कृतज्ञता

भटार्क कृतज्ञ है। अपने अक्षम्य अपराधों की स्कन्द द्वारा क्षमा पाकर वह लज्जित हो जाता है। अपने दुष्कर्मों के लिए उसे पश्चात्ताप है।

"प्रपंच—उसने तुम्हें सूली पर नहीं चढ़ाया ?

भटार्क—नहीं उससे बढ़कर।

प्रपंच—क्या ?

भटार्क—मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।

प्रपंच—तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिए, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

भटार्क—मैं इतना नीच नहीं हूँ।"

देवसेना के अन्त करने के षड्यंत्र में उसकी आत्मा काँप उठती है। भले और बुरे दोनों के द्वंद्व का चित्रण लेखक की कला-कौशल का अच्छा परिचायक है।

"भटार्क—परन्तु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और स्कन्दगुप्त से
किस मुँह से . . .नहीं नहीं।
प्रपञ्च—सावधान भटार्क, अलग ले जाकर इतना समझाया, फिर भी
तुम पहले अनन्तदेवी और पुरुगुप्त के प्रतिश्रुत हो चुके हो।
भटार्क—ओह ! पाप पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं; कुकर्म उसे
पकड़ कर अपने नागपाश में बाँध देता है। दुर्भाग्य !"

कर्त्तव्य-निष्ठा

भटार्क में एक मिथ्या अहंकार अपनी सत्यनिष्ठा का भी है। सद्मार्ग में वही पवित्र आचरण बन जाता। अनंतदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत होने के कारण उसने बुरा मार्ग अपनाया। फलतः अन्त में वह हूणों से सधि कर आर्यावर्त का पतन करता है। वास्तव में वह साम्राज्य के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहता था।

भटार्क का यह दोप काल और परिस्थिति के बीच दुराचरण ही समझा जावेगा। लेकिन वह अपनी बुद्धि के अनुसार सत्कार्य में ही लगा था। जो हो भटार्क का चरित्र सुन्दर और घृणित कर्मों का सम्मिश्रण है। प्रारभ में दुराचरण का ही प्रभाव उसकी प्रकृति पर मुख्य है। क्रमशः नित्य की भूलों ने उसकी दुर्वृत्तियों का नाश कर डाला और उसकी आन्तरिक चेतना जाग्रत होने लगी—उसे अपनी भूल मालूम होने लगी। जो पहिले स्कन्द का शत्रु था, अब उसका सेवक बन गया। जिसने अपने कर्मों से देश को म्लेच्छों के हाथ सौंप दिया था, वही अपने ही धन से सेना संकलित कर देशोद्धार में लग गया।

प्रेम

भटार्क के जीवन का परिवर्तन मुख्यतः दो बातों के कारण ही हुआ है। एक तो महादेवी की मृत्यु और दूसरी माँ की भर्त्सना। इसमें सन्देह नहीं कि महादेवी के प्रति उसकी श्रद्धा सदैव रही है;

अतएव उनकी मृत्यु से उसके हृदय पर एक भयानक धक्का लगा। परन्तु माँ की भर्त्सना उसे असह्य थी ! माँ को वह सबसे अधिक मानता था। माँ के रूठ जाने पर वह उसे रास्ते-रास्ते मनाता फिरता रहा।

"माँ अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था। केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कन्दगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट होगा।"

\+ \+ \+

"कमला—तू मेरा पुत्र है कि नहीं ?

भटार्क—माँ, संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है और मुझे इतने पर ही विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ। किसलिए ? केवल इसीलिए कि तू मेरी माँ है और वह जीवित है।"

देवकी की मृत्यु के पश्चात् माँ के शब्द जादू का कार्य कर गये। उसे अपनी भूल मालूम होने लगी, अपनी दुर्बुद्धि पर पश्चात्ताप होने लगा, "माँ, क्षमा करो ! आज से मैंने शस्त्र त्याग दिया—मैं इस संघर्ष से अलग हूँ। अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा।"

चन्द्रगुप्त

रचना-तिथि

चन्द्रगुप्त नाटक स्कन्दगुप्त के तीन वर्ष बाद १६३१ में प्रकाशित हुआ। प्रकाशक के वक्तव्य से मालूम होता है कि यह ग्रन्थ प्रकाशन तिथि के दो वर्ष पूर्व ही प्रेस मे आ गया था। इस कारण यह नाटक या तो स्कन्दगुप्त के साथ ही साथ लिखा गया है या उसके पश्चात् ही। प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त नाटक लिखने का विचार वहुत पहले का मालूम होता है क्योंकि नाटक की भूमिका उन्होंने सन् १६०६ में ही प्रकाशित कर दी थी और इसलिए "इस उत्कृष्ट नाटक के लिखने की भावना भी प्रसाद जी के मन में उसी समय से बनी हुई थी। इसी के नमूने पर एक छोटा-सा रूपक कल्याणी परिणय के नाम से उन्होंने लिखा भी। जो अगस्त १६१२ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था।"[1] इस कारण वहुत सम्भव है कि नाटक का प्रारम्भ

---

[1] प्रकाशक का वक्तव्य।

बहुत पहले ही हो चुका हो। मेरा तो अनुमान है कि नाटक स्कन्दगुप्त के पूर्व ही लिखा जा चुका था क्योंकि नाट्य की दृष्टि से इसमें कई भूलें हैं और वह स्कन्दगुप्त से निम्न श्रेणी की रचना है।

राय बाबू का चन्द्रगुप्त

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त मे समता भी बहुत कुछ है। नाटक का घटना-सगठन, उसका विस्तार, चरित्र-चित्रण बहुत कुछ स्कन्दगुप्त के समान ही है। केवल ऐतिहासिक अन्वेषण ने नाटक की पृष्ठभूमि को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। राय बाबू के चन्द्रगुप्त नाटक का अनुवाद १९१७ मे आ चुका था और उसका हिन्दी साहित्य में मान भी अधिक हुआ था। अतएव प्रसाद जी के लिए यह आवश्यक था कि वे इस कथानक को कुछ मौलिक रूप में रखते। राय बाबू इतिहास के फेर मे नही पड़े। उन्होने इतिहास की प्रचलित सामग्री को लेकर साहित्य के साँचे मे ढाल दिया है। इतिहास का उन्हे इतना ध्यान न था जितना साहित्य का। प्रसाद जी दूसरी ओर से ही चले मालूम होते हैं। उन्हे इतिहास का अधिक ध्यान था और सम्भवतः साहित्य का कम। जो ऐतिहासिक अन्वेषण उन्होंने १९०९ के बहुत पूर्व प्रारम्भ किया था वह १९२९ तक बराबर चलता ही रहा और इस रूप में ऐतिहासिक लक्ष्य की ओर ही नाटककार का ध्यान अधिक रहा मालूम होता है।

प्रसाद और राय बाबू के नाटकों मे एक और अन्तर मालूम पड़ता है। राय बाबू का नाटक अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओ को लेकर चला है, परन्तु प्रसाद जी का नाटक संकुचित राष्ट्र-भावना पर आधारित है। द्विजेन्द्रलाल राय के लिए सिकदर भी महान् था और चन्द्रगुप्त भी—क्योंकि दोनो वीर पुरुष थे—दोनों ससार की महान् विभूतियाँ थीं। इतिहास सिकदर का चरित्र चन्द्रगुप्त से महान् बताता है। वह वीर था, वीरता का मान करने वाला था। उसमे असीम उत्साह था, वह

दूसरो के उत्साह का भी मान करता था। पुरु ने जो कुछ किया था भारतवर्ष के लिए। देश-प्रेम के नाते पुरु का पौरुष श्लाघ्य है, परन्तु मानवता के नाते सिकंदर का पुरु के प्रति आचरण अधिक प्रशंसनीय है। चन्द्रगुप्त महान् था परन्तु सिकंदर की श्रेणी मे वह नहीं रखा जा सकता। राय बाबू ने यह ध्यान रखा है इसी कारण उन्होने सिकदर महान् का रगमच पर अधिक नही आने दिया। उनका सिकंदर पूर्ण ऐतिहासिक चरित्र है। प्रसाद जी ने भी सिकंदर को महान् चित्रित करने का प्रयत्न किया है और उन्होने ऐसे स्थल रखे भी हैं जहा उसकी महानता प्रकट होती है। परन्तु फिर भी चन्द्रगुप्त, सिंहरण, चाणक्य और दाण्डायन के समीप उसकी लघुता स्पष्ट गोचर होने लगती है। १६२२ से जो राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था उसका प्रभाव प्रसाद जी पर पड़ता ही रहा और इस कारण पूरे राष्ट्रवादी होकर उन्होंने भारतीय गौरव ही अपने नाटक मे रखा है। राय बाबू में जहा मानवता की पुकार है वहा चन्द्रगुप्त मे राष्ट्रीय भावना की।

भारत गौरव प्रकट करने के लिए प्रसाद जी ने केवल ऐतिहासिक चरित्रों पर ही आघात नहीं किया है, वरन् नाटक के कथानक का रूप भी बदल दिया है। राय बाबू का नाटक स्वतन्त्र गति से चलता हुआ दिखाता है उसके कथानक में प्रवाह है। परन्तु प्रसाद जी के नाटक का कथानक बड़ा शिथिल हो गया है। प्रसाद जी ने महान् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को नाटक मे बंद करने का प्रयत्न किया है। जहाँ-जहाँ भी नाटककार को भारतीयता प्रकट करने का मौका मिला है वहीं उसने दृश्य के दृश्य रच डाले हैं। आम्भीक यदि देशद्रोही था तो उसकी वहिन आर्यावर्त की लक्ष्मी थी जो अपने भाई और पिता के विरुद्ध देश की स्वतंत्रता के लिए प्रजा को भडकाती रही। इस कारण अलका का चरित्र और तक्षशिला की घटनाएँ नाटक मे रख दी गई। यवनों के प्रत्यावर्तन मे भी इतिहास ने सिकंदर की महानता स्वीकार की है। परन्तु प्रसाद जी ने उस समय के व्यर्थाभिमान की ओर संकेत करते हुए

उस समय की फूट को भारतीय पराजय का मुख्य कारण बताया है। पुरु अपने अभिमान मे चूर था—आम्भीक पुरु से द्वेष रखता था: अतएव दोनो का पतन हुआ। लेकिन इस पतन मे भी प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति की ही विजय रखी है। मालव गणतंत्रों ने एक साथ मिलकर सिकदर से मोर्चा लिया था इस कारण सिकदर को भारतीयो का लोहा मानना पड़ा।

दाण्डायन के आश्रम का दृश्य भी भारतीयता की विजय चित्रण करने के लिए रखा गया है। भारतीय गौरव प्रदर्शन करने के लिए ही प्रसाद जी ने इस विस्तृत ऐतिहासिक पीठिका को अपने नाटक मे रखा है जिसके कारण उन्हे कई दृश्यो और चरित्रों की सृष्टि करनी पड़ी है। इसलिए नाटक मे वह एकरूपता नही जो राय बाबू के चन्द्रगुप्त नाटक ने मिलती है। उसमे वह उन्मुक्त प्रवाह नही, वह अबाध गति नही जो सफल नाटक के लिए आवश्यक है।

कथा-संगठन

फलागम की दृष्टि से नाटककार का उद्देश्य चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष दिखाना है। किस प्रकार चन्द्रगुप्त तक्षशिला का एक साधारण स्नातक है और किस प्रकार परिस्थितियो ने उसे भारत का सम्राट् बना दिया। यही नाटक का संक्षिप्त कथानक है। प्रथम अंक मे हम इस चरित्र की वीरता को देखते हैं। वह वीर है भारत की परिस्थितियाँ भी उसके लिए उपयुक्त हैं। अन्य वीर योद्धा वा चाणक्य के समान बुद्धिमान पुरुष उसकी सहायता के लिए तैयार हैं। प्रथम अंक मे ही दाण्डायन उसके लिए भविष्यवाणी भी करते हैं। हमे उसके उत्कर्ष के लिए आशा बँधने लगती है। द्वितीय अंक मे उसी वीर नायक की अध्यक्षता मे सिकंदर को हारना पड़ता है और सिकंदर का प्रत्यावर्तन होता है। चाणक्य की कूटनीति पूरा काम करती मालूम होती है। तृतीय अंक मे हम चन्द्रगुप्त को मगध का राजा होते देखते हैं। घटनाऍ एक दूसरे से पूर्ण संबद्ध हैं।

चतुर्थ अंक

रस के विचार से या कार्य संकलन की दृष्टि से चतुर्थ अंक भले ही नाटक के उपयुक्त न हो पर वह विषय के अनुकूल अवश्य है। चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष दिखाने के लिए उसे केवल मगध का राजा प्रदर्शित करना शोभा नही देता इस कारण उसके अकण्टक राज्य का चित्रण करने के लिए ही चतुर्थ अक रखा गया है। इसमे हम उसकी सेल्यूकस से मैत्री देखते हैं और सिंहरण को जो मालवा और तक्षशिला का अधिकारी है, चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार करते पाते हैं। राक्षस भी चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार कर लेता है। और इस प्रकार चन्द्रगुप्त पूरे उत्तरापथ का सम्राट हो जाता है।

चतुर्थ अंक का विषय-महत्त्व कितना ही हो परन्तु वह नाटक मे अलग से जुड़ा हुआ परिच्छेद-सा मालूम होता है तृतीय अक नाटक की चरम सीमा मालूम होती हैं जहाँ पर हमारी जिज्ञासा की पूर्ण शाति हो जाती है। इस कारण चतुर्थ अंक मे हमारे लिए कुछ भी आकर्षण नही रह जाता और इस अंक की घटनाएँ फिर से प्रारंभ होती हुई मालूम होती हैं। यदि नाटक तृतीय अक पर ही समाप्त हो जाता तो उसका प्रभाव दर्शको और पाठको पर अधिक रहता। चतुर्थ अंक की अवतारणा साहित्य की दृष्टि से ठीक नही मालूम होती।

उपकथानक

नाटक का मुख्य कथानक केवल इतना ही है। कई अनावश्यक प्रसंगों से यह कथानक वहुत वढ़ा दिया गया है। जिसके कारण कथानक मे जटिलता आ गई है और उसकी रोचकता भी कम हो गई है। नाटक इन अनावश्यक प्रसंगो के कारण खेलने योग्य भी नहीं रहा। काशी की रत्नाकर रसिक मंडली ने इस नाटक के ४७ मे से केवल २६ दृश्य खेले थे फिर भी इस प्रदर्शन मे कई घंटे लगे। कार्य-संकलन की दृष्टि

से नाटक मे कई अनावश्यक प्रसग रख दिये गये हें जो रसात्मक होते हुए भी व्यर्थ हैं। इसमे सन्देह नहीं कि नाटक की सारी उपकथाएँ मुख्य कथानक से पूर्ण सबद्ध हैं। वे अजातशत्रु की उपकथानकों के समान स्वतंत्र सत्ता नहीं रखतीं। परन्तु उपकथानको की भरमार इतनी अधिक है कि मुख्य कथानक का रूप ही हमारी समझ मे नही आता। सिंहरण-अलका का प्रेम, पर्वतेश्वर-कल्याणी कथानक और कल्याणी-चन्द्रगुप्त प्रणय ये तीनो घटनाएँ मुख्य कथानक के विकास मे किसी प्रकार की सहायता नहीं देतीं। यदि ये तीनो घटनाएँ निकाल दी जावे तो नाटक मे कोई अरोचकता न होगी। हाँ, उसका कथानक काफ़ी निखरे रूप मे आ जावेगा। साथ ही चन्द्रगुप्त के चरित्र का विकास जो सिंहरण, पर्वतेश्वर आदि अन्य चरित्रों की अवतारणा वा उनके बार-बार नाटक मे आ जाने से रुक जाता है, पूर्ण हो सकेगा।

नाटककार ने इन दृश्यो वा चरित्रों को केवल अपने देश-प्रेम और प्रसूति-कल्पना के कारण रखा है। सिंहरण और अलका नदी मे बहते हुए दो तिनकों के समान मिल जाते हैं। कथानक के धाराप्रवह मे उनका कोई महत्त्व नहीं। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इस कथानक के द्वारा पर्वतेश्वर के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और सिंहरण को अलका का प्रेम, उसको देश-सेवा के पुरस्कार-स्वरूप मिलता है। पर इससे तो पर्वतेश्वर की वीरता, उसकी इतिहास प्रसिद्ध दृढ़ता पर ही छींटे पड़ते हैं। पर्वतेश्वर हमारे सामने कामुक और देश-द्रोही के रूप मे आता मालूम होता है।

पर्वतेश्वर-कल्याणी कथानक सम्भवतः उस समय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खींचने के लिए ही रखा गया है। सिकंदर की भारत विजय का कारण यहाँ की फूट ही बताई गई है और इस फूट का कारण आम्भीक और पर्वतेश्वर तथा मगध के विद्वेषपूर्ण संबंध से अच्छी तरह मालूम हो जाता है। कल्याणी-चन्द्रगुप्त कथानक

कार्य-संकलन की दृष्टि से नाटक मे अनावश्यक ही है। हमारे जीवन में भी कई ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं जिनका हम पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। कलाकार को मुख्य कथानक चयन में ऐसी घटनाओं का संशोधन करना पड़ता है। कल्याणी-चन्द्रगुप्त प्रणय चन्द्रगुप्त की मुख्य कथा का एक निरर्थक भाग है क्योंकि उसका कोई भी प्रभाव चन्द्रगुप्त के जीवन विकास पर नहीं पड़ता। दो पात्रों की अवतारणा भी अनावश्यक है, एक आम्भीक का पिता वृद्ध राजा और दूसरा मालविका। इनके बिना भी कथानक पूर्ण रूप से शृंखलाबद्ध रह सकता था।

इन चरित्रो वा घटनाओं की अधिकता से मुख्य घटना कुछ दब-सी गई है और नाटक के दर्शकों और पाठकों को कथानक समझने मे कुछ कष्ट सा उठाना पड़ता है। नाटक के मुख्य पात्रों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। नाटककार ने नाटक का नायक चन्द्रगुप्त माना है; परन्तु चन्द्रगुप्त के चरित्र मे पूर्ण विकास न होने के कारण हमारा ध्यान चाणक्य की कार्यशैली पर केन्द्रित हो जाता है। वही एक व्यक्ति है जो इन भिन्न-भिन्न घटनाओं वा चरित्रों को नाटक मे एक दूसरे से सम्बन्धित किये हुए है। नाटक मे उसी की तूती खूब बोल रही है। और वही नाटक का नायक बना बैठा-सा मालूम होता है।

कथानक बढ़ जाने के कारण नाटककार से कई अन्य भूले भी हुई हैं। विशेषतः उपघटनाओं के चित्रण और उपकथानक से संबंध रखने वाले दृश्यों मे। उदाहरणार्थः—सिल्यूकस के ऊपर चन्द्रगुप्त से षड्यंत्र करने का अभियोग लगाया गया। सिकंदर न्याय करने बैठा। चन्द्रगुप्त से कुछ गरमागरम बाते हुई। वह तलवार चलाकर निकल भागता है। इसके पश्चात्—

"सिकन्दर—सिल्यूकस !

सिल्यूकस—सम्राट !

सिकदर—यह क्या ?

सिल्यूकस—आपका अविवेक ! चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है ! यह

आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है, सम्राट ! हम लोग जिस काम से आये हैं उसे करना चाहिए। फिलिपस को अन्तःपुर की महिलाओं के साथ वाल्हीक जाने दीजिये।

सिकंदर—(कुछ सोचकर) अच्छा जाओ।"

चन्द्रगुप्त की यह प्रशंसा तो सिल्यूकस के अपराध को और भी सिद्ध करती है। फिर सिल्यूकस सिकंदर को पाठ पढ़ाने लगता है। सिकंदर जैसे भूल ही जाता है कि वह न्याय करने बैठा था और कह उठता है, "अच्छा जाओ।"

इसी प्रकार मालविका का प्रेम-प्रदर्शन करने के लिए—चन्द्रगुप्त मालविका से बातें कर रहा है। चाणक्य आकर कहता है, यह युद्ध का समय है, "छोकरियों से बात करने का समय नहीं"। चन्द्रगुप्त और चाणक्य का वार्तालाप होता है उसके बाद वह कहता है, "चलिये मैं अभी आया" और फिर मालविका से बातें करने लगता है। गुरु ने जिसके लिए मना किया था वही आचरण। गुरु का यह अपमान ! फिर भी चाणक्य चुपचाप चले जाते हैं। चाणक्य बेचारा क्या करे, नाटककार को तो मालविका-प्रणय पूरा करना है।

इन सब कारणों से कथानक का रूप काफी विकृत हो चुका है। उसमें वह एकरूपता नहीं रह गई है जो नाटक के कथानक में उन्मुक्त प्रवाह लाता है। कथानक का विस्तार प्रासंगिक घटनाओं से इतना बढ़ गया है कि मुख्य घटना दब-सी गई है। मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी स्पष्ट नहीं हो सका है और नाटक का विस्तार इतना हो गया है कि वह रंगमंच के उपयुक्त भी नहीं रहा।

चरित्र-चित्रण

एकांगी

कथानक के बढ़ जाने से पात्रों की संख्या भी बढ़ गई है जिसके

कारण मुख्य चरित्रों के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ा है। पूर्ण प्रस्फुटित न होने के कारण पात्र हमें केवल छाया मात्र ही मालूम होते हैं। वे हमारे सामने एक जटिल प्रकृति के मनुष्य के समान नहीं आते जिसमे प्रेम होता है, दया होती है, क्रोध होता है, घृणा होती है। जो हँसता है, रोता है, गाता है। चन्द्रगुप्त का कोई भी चरित्र इस जटिल प्रकृति का चित्र नहीं। उनमे मानव चरित्र के केवल एक ही अग को ले लिया गया है और उसका चित्रण किया गया है। सिंहरण केवल वीर है; युद्ध करना जानता है, कभी-कभी प्रेम भी कर लेता है। बस। चन्द्रगुप्त सिंहरण के चरित्र के ढाँचे में ही ढला हुआ है। आम्भीक का पिता एक असहाय पुरुष है जो राजा होने के योग्य भी नही। नंद विलासी है। राक्षस शकटार वररुचि भी एकागी है। चाणक्य का चरित्र भर इतना सरल नही है इस कारण वही कुछ अच्छा चरित्र हो सका है।

विकास

चरित्र का केवल एक पहलू लेकर भी उत्तम चरित्रो की अवतारणा होती है क्योंकि ऐसे चरित्र अपने इन एकागी रूप के कारण घटनाओ को प्रभावित करते हैं वा घटनाओं द्वारा स्वयं प्रभावित होकर अपने चरित्र मे विकास करते हैं। परन्तु अत्यधिक चरित्रों के कारण चन्द्रगुप्त मे यह भी संभव नहीं हो सका है। उनमे कोई विकास नही। हम जिस चरित्र की जो बाते पहले दृश्य मे पाते हैं वही मध्य मे और वही अत मे। केवल चाणक्य् के चरित्र मे यह विकास है। कुछ विकास चन्द्रगुप्त के चरित्र मे भी मिलता है, परन्तु यह विकास नायक के महत्त्व के योग्य नही। आदि दृश्यो मे चन्द्रगुप्त की वीरता ही हमे देखने को मिलती है और कुछ नहीं। हाँ, वह कर्तव्य-प्रेमी है इस कारण प्रेम आदि के झंझटों मे नहीं पड़ता। कल्याणी के प्रेम की वह उपेक्षा करता है लेकिन यह कल्याणी के प्रति उसकी उदासीनता ही थी, क्योंकि युद्ध-

काल में वह मालविका वा कार्नीलिया से प्रेम करता है।

सिंहरण वीर है। नंद विलासी और वाद में निर्दयी हो जाता है; परन्तु अपने चरित्र-विकास या घटनाओं के कारण नहीं। वह पहले से ही अविवेकी राजा था—तभी तो शकटार को वन्दी किया था और चाणक्य को अपमानित कर निर्वासित किया था। पर्वतेश्वर के चरित्र मे अवश्य विकास है। वह अभिमानी राजा है परन्तु उसका अभिमान चूर हो जाता है और वह विरागी बन बैठता है। परन्तु यहाँ एक अस्वाभाविकता आ जाती है, जिसका कोई भी कारण नहीं। इस वैराग्य मे वह फिर क्यों मगध का आधा राज्य माँगता है? क्यों कल्याणी से प्रेम कर अपनी मृत्यु बुलाता है? आम्भीक एक महत्त्वाकान्ती कुमार है पर अंत में अपना राज्य तक अलका को दे डालता है—सो क्यों? क्या केवल अपनी पराजय के कारण?

स्त्री पात्रों के चरित्र प्रायः एक से ही हैं। अलका, मालविका और कल्याणी सच्ची प्रेमिकाएँ हैं—देश की रक्षा का ध्यान रखती हैं। सुवासिनी—शक्तिशाली की पूजा करती है और कभी राक्षस की आराधना करती है और कभी चाणक्य की। कार्नीलिया भारत से प्रेम करती है और चन्द्रगुप्त से भी। वह प्रेम की मूर्ति है, पवित्र निस्वार्थ प्रेम की।

अन्तर्द्वन्द्व

जिस समय चरित्रों का केवल एक ही अंग उपस्थित किया जाता है उस समय उनमे हमें अन्तर्द्वन्द्व नहीं मिलता। चन्द्रगुप्त मे चाणक्य के चरित्र को छोड़ और किसी मे यह अन्तर्द्वन्द्व नहीं दिखाई देता। अवसर आये हैं पर नाटककार ने उनका उपयोग नहीं किया। सुवासिनी ने राक्षस पर अपना प्रेम प्रगट कर दिया, पर राजकोप का डर था। राक्षस के हृदय में एक हलचल आवश्यक थी।

"एक परदा उठ रहा है या गिर रहा है समझ में नहीं आता,

(आँखें मींचकर) सुवासिनी ! कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम । मैं हस्तगत कर लूँ ? नहीं राजकोप होगा । परन्तु मेरा जीवन वृथा है । मेरी विद्या, मेरा परिष्कृत विचार सब व्यर्थ है। सुवासिनी एक लालसा है, एक प्यास है । वह अमृत है उसे पाने के लिए सौ बार मरूँगा ।"

केवल इतने से ही अन्तर्द्वन्द्व का अवकाश चला गया। चाणक्य के चरित्र में नाटककार ने अवश्य ही कुछ जटिलता रखी है। उसके हृदय भी है और मस्तिष्क भी। मस्तिष्क हृदय को दवा देना चाहता है पर जैसे वह वार-वार वाहर झाँक पड़ता हो। एक उत्तम चरित्र की सामग्री उपस्थित है। नाटककार ने चाणक्य के चरित्र-चित्रण मे सफलता भी प्राप्त की है। पर यह चरित्र भी स्थानाभाव से पूर्ण नहीं हो सका है। कही-कहीं तो यह अन्तर्द्वंद्व इतनी फीकी तरह से चित्रित हुआ है कि वह अस्वाभाविक-सा लगने लगता है। उदाहरणार्थ—

चाणक्य अपनी झोपड़ी पर लौटकर आता है। पिता निर्वासित हो गया है। शकटार, उसके पिता का मित्र, वदी है; सुवासिनी, उसकी कोमल स्मृति, भूख की ज्वाला मे अभिनेत्री हो गई। संसार मे चाणक्य के लिए कुछ भी नहीं। उसे मगध के ऊपर क्रोध आना स्वाभाविक ही था—

"मगध ! मगध ! सावधान ! इतना अत्याचार ! सहना असंभव है। तुझे उलट दूँगा। नया वनाऊँगा, नहीं तो नाश ही कर दूँगा। (ठहरकर) एक वार चलूँ; नंद से कहूँ—नहीं; परन्तु मुझे मेरी भूमि, मेरी वृत्ति वही मिल जावे, मैं शास्त्र-व्यवसायी न रहूँगा। मै कृपक वनूँगा मुझे राष्ट्र की भलाई बुराई से क्या ?"

इस परिवर्तन—इस शातिमय जीवन अपनाने का क्या रहस्य है ? नाटककार के पास इसका उत्तर नही।

यह भी वात नहीं है कि सभी भूले स्थानाभाव से ही हुई हो। कहीं-कहीं नाटककार ने अपनी भूल से या किसी अन्य कारण से चरित्रों में कुछ अस्वाभाविकता ला दी है। प्रतिवेशी स्वयं आकर चाणक्य को

टोकता है उसे हँस-हँसकर सब बातें बताता है—जैसे वह बात करने में बड़ा आनद लेता हो, परन्तु चाणक्य के पूछने पर कि शकटार का कुटुम्ब कहाँ है ? वह जैसे एक उदासीन पुरुष हो बातें कम करना पसंद करता हो। कहता है—"कैसे मनुष्य हो ! अरे राजकोपानल में सब जल मरे। इतनी सी बात के लिए मुझे लौटाया था ? छिः" क्या वास्तव में यह "इतनी-सी बात" है।

चन्द्रगुप्त

विकास

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है, परन्तु चाणक्य के सामने नायक का महत्त्व बहुत ही कम हो गया है। चाणक्य ही घटनाओं का सूत्राधार है—वह विचार है तो चन्द्रगुप्त साधन मात्र। प्रारंभ मे अवश्य ही वह कुछ स्वतंत्र होकर काम करता है परन्तु बाद मे बिना चाणक्य के वह कुछ भी नही कर पाता है। उसके चरित्र मे जो विकास हुआ है वह नायक के महत्त्व को बढ़ानेवाला नहीं। जहाँ प्रथम अंक मे वह निर्भीक योद्धा के समान युद्ध करता है, चाणक्य को कार्य-संचालन मे सलाह देता है, वहाँ अन्तिम अक मे वह युद्ध करते हुए घबड़ाता-सा है। बिना गुरु के उसे अपने बल पर भरोसा नहीं। उसका व्यक्तित्व ही कुछ नहीं रह जाता। इन सब कारणों से चन्द्रगुप्त नाटक का नायक प्रतीत नहीं होता।

आत्म-सम्मान और वीरता

चन्द्रगुप्त के चरित्र के केवल दो पहलू ही नाटककार ने हमारे सामने रखे हैं; पहली उसकी वीरता और दूसरा उसका प्रेम। पहले ही दृश्य में हम उसे सिंहरण की रक्षा के हेतु आम्भीक के विरुद्ध युद्ध करते देखते हैं फिर तो जब चाहे तब उसकी युद्ध-कुशलता का परिचय मिल जाया करता है—कार्नीलिया के बचाने मे, अपनी स्वतंत्रता के लिए,

फिलीपस से द्वंद्व-युद्ध आदि में।

अपने मान का उसे पूर्ण ध्यान है। चाणक्य से वह कहता भी है, "आर्य, संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने केवल यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।" यह सिद्धान्त चन्द्रगुप्त अपने जीवन में व्यवहारात्मक रूप में रखना चाहता है उसी के लिए वह फिलीपस से द्वंद्व युद्ध करता है, सिकन्दर से युद्ध करता है, अपने को स्वतंत्र रखता है और चाणक्य की रक्षा करता है।

आत्म-सम्मान के लिए वह चाणक्य को भी रुष्ट कर देता है, वह चाणक्य का नियन्त्रण राज्य-शासन में सहन कर सकता है। परन्तु पारिवारिक संबधों में स्वतंत्र रहना चाहता है।

"यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियंत्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।"

उसमें युद्ध करने की कुशलता है। उसने सिकन्दर और सिल्यूकस दोनों के विरुद्ध युद्ध किया था। वह सभी बातों को खूब ध्यान से देख सकता है। यवनों की रणनीति से भी वह खूब परिचित हो गया है। कब कहाँ पर क्या होनेवाला है वह अच्छी तरह जानता है। इन सब गुणों के होते हुए भी क्या चन्द्रगुप्त अच्छा राजा हो सकता है? वह तो केवल चाणक्य के हाथ की कठपुतली के समान चाणक्य के इशारों पर चलता है। अपने सेनापतित्व में उसने सिकन्दर को हराया; पर इस विजय में चाणक्य को अधिक श्रेय है—उसी की रणनीति, उसी की कार्य-कुशलता के कारण चन्द्रगुप्त को मगध से सहायता मिली, वह मालव के गणतन्त्रों का सेनापति चुना गया, उसीने युद्ध में कहाँ पर कैसा काम करना है, नियत किया है, उसी के इशारे पर सिंहरण चन्द्रगुप्त के आधिपत्य में काम करता है।

सिल्यूकस से जब युद्ध हुआ था उस समय वह अवश्य ही चाणक्य

के शासन से मुक्त है। परन्तु उसके सभी कामों में, उसकी बातचीत में एक प्रकार की विह्वलता मालूम होती है, वह स्थिर नहीं है कुछ घबड़ाता सा है। चाणक्य के क्रोधित हो चले जाने पर—

"चन्द्र०—जाने दो-(दीर्घ निश्वास लेकर)—तो क्या मैं असमर्थ हूँ ? ऊँह सब हो जावेगा।"

युद्ध स्थल पर—

"चन्द्र०—हूँ ? सिंहरण इस प्रतीक्षा मे है कि कोई बलाधिकृत जाय तो वे अपना अधिकार सौंप दें। नायक ! तुम खड्ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिए सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते ? बोलो ! चन्द्रगुप्त के नाम से प्राण दे सकते हो ? मैंने प्राण देनेवाले वीरों को देखा है। चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रक्खो, उसके नाम का जयघोष विजय-लक्ष्मी का मंगल गान है। आज से मै ही बलाधिकृत हूँ, मै आज सम्राट नहीं, सैनिक हूँ ! चिन्ता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या ! सैनिको सुन लो, आज से मैं केवल सेनापति हूँ और कुछ नहीं..... ।"

इतनी बड़ी हार जो सिल्यूकस को सहनी पड़ी उसमे चाणक्य का भारी हाथ था। इन सब कारणो से हम चाणक्य को चन्द्रगुप्त का सूत्राधार कह सकते हैं। बिना चाणक्य के चन्द्रगुप्त का कोई अस्तित्व नही।

प्रेम

प्रणयी के रूप मे चन्द्रगुप्त कसौटी पर नही उतरता। प्रथम अंक मे तो हम यही समझते हैं कि कर्तव्य-पथ मे दृढ़ होने के कारण वह इन प्रेम बन्धनों से दूर भागना चाहता है। परन्तु बाद मे हमारी यह धारणा गलत मालूम होती है। स्नातक बनकर लौटने के बाद जब उसकी भेंट कल्याणी से होती है और कल्याणी कहती है, "परन्तु मुझे

आशा थी कि तुम मुझे भूल न जाओगे" तब चन्द्रगुप्त उस बात का कोई उत्तर ही नहीं देता। वह यह कहकर बात टाल देता है, "देवि ! यह अनुचर सेवा के लिए उपयुक्त अवसर पर ही पहुँचा। चलिये शिविका तक पहुँचा दूँ।"

दूसरी बार पर्वतेश्वर और सिकन्दर के युद्ध में जब कल्याणी और चन्द्रगुप्त मिलते हैं और कल्याणी अपने हृदय को खोलकर चन्द्रगुप्त के सामने रख देती है—वह मैदान में आई थी, "केवल तुम्हें देखने के लिए। मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे और मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणों में एक मैं भी हूँ" चन्द्रगुप्त फिर भी उदासीन है, "परन्तु राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृतिलता मुरझा गई है।

कल्याणी—चन्द्रगुप्त !

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी, समय नहीं।"

क्या यह प्रणयी चन्द्रगुप्त है ? क्या उसके हृदय में कुछ भी सहानुभूति नहीं ? क्या वास्तव में उसे देश का इतना ध्यान है ? यदि ऐसा है तो मालव-युद्ध के समय वह मालविका का संगीत क्यों सुनना चाहता है ? मालविका कहती है—

"माल०—युद्धकाल है, देश में रण-चर्चा छिड़ी है। आजकल मालव स्थान में कोई गाता-बजाता नहीं।

चन्द्र०—रणभेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूँ तो कोई हानि न होगी। मालविका ! न जाने क्यों आज ऐसी कामना जाग पड़ी है।"

छोकरियों से बात करने का मना करने पर वह चाणक्य से कह देता है, "आप चलिये मैं अभी आया" और फिर बात करने लगता है। क्या यह कर्तव्य-ज्ञान है ? क्या सचमुच उसका हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है ?

इसके पश्चात् जब कल्याणी पर्वतेश्वर को मार चुकती है तो

मृत्यु का कारण बताते हुए वह चन्द्रगुप्त से कहती है—यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था "परन्तु मौर्य कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त।" चन्द्रगुप्त जैसे सोकर जाग-सा उठा हो। "क्या यह सच है कल्याणी?" इस हृदय की अस्थिरता को क्या कहा जा सकता है? मालविका से वह प्रेम करता था। उसकी मृत्यु पर उसे दुःख भी हुआ परन्तु इसमें प्रेम के आदर्श की कमी थी। कार्नीलिया-प्रणय भी तो उसी समय चल रहा था! यौवन के प्रवेश काल में वह सभी को प्रेम करना चाहता है। इसी कारण नायक होते हुए भी वह हमारे हृदय को आकर्षित नहीं कर पाता क्योंकि इतना अस्थिर मनुष्य हमारी सहानुभूति और शुभाकाक्षाओं का पात्र नहीं हो सकता।

चन्द्रगुप्त का चरित्र अंतिम अंक में अवश्य ही कुछ ऊपर उठा है। वह हमारे सामने एक न्याय-प्रिय राजा के रूप में उपस्थित होता है; परन्तु यहाँ भी चाणक्य अपनी क्षमाशीलता में चन्द्रगुप्त से बहुत आगे बढ़ जाता है।

चाणक्य—"मैं प्रसन्न हूँ वत्स! यह मेरे अभिनय का दण्ड था। मैंने जो आज तक किया, वह न करना चाहिये था; उसी का महाशक्ति केन्द्र ने प्रायश्चित्त कराना चाहा। मैं विश्वस्त हूँ कि तुम अपना कर्तव्य कर लोगे। राजा न्याय कर सकता है, परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है।"

चाणक्य

अन्तर्द्वन्द्व

चाणक्य एक दार्शनिक का चित्र है। वह इस सिद्धान्त की रूपरेखा है कि मनुष्य के हृदय होता है। मनुष्य कितना भी क्रूर हो जावे, वह कितना ही नीतिज्ञ हो जावे, अपनी बुद्धि से सभी आकाक्षाओं को दबाने

वाला ही क्यों न हो जावे, परन्तु समय-समय पर उसके हृदय की रागात्मक प्रवृत्ति बाहर निकल ही पड़ती है। चाणक्य का चरित्र मस्तिष्क और हृदय का द्वंद्व है जिसमे मस्तिष्क हृदय को अभिभूत करना चाहता है। परन्तु हृदय जैसे बार-बार बाहर निकलने का प्रयत्न करता हो और जैसे कह उठता हो—"मैं अभी हारा नहीं—मै यहाँ हूँ।" यही द्वद्व ही चाणक्य का चित्र है।

प्रसाद जी की महानता इस चरित्र के चित्रण में है। पुराने नाटकों मे चाणक्य केवल मस्तिष्क प्रधान व्यक्ति ही हमारे सामने रखा गया था परन्तु इस नाटक मे उसे हृदय भी दिया गया है। उसके मस्तिष्क है और हृदय भी है। चाणक्य चाणक्य ही है उसके मस्तिष्क का हृदय पर शासन होना स्वाभाविक ही है। लेकिन कुछ भी हो चाणक्य मनुष्य भी तो है। वह हृदय को दबाता है परन्तु हृदय बार-बार ऊपर निकल ही पड़ता है। मस्तिष्क और हृदय के इसी द्वंद्व मे ही चाणक्य के चरित्र की मनोहरता है। घटनाओं के घात-प्रतिघात मे उसके चरित्र का विकास भी होता जाता है जहाँ प्रारंभ मे सुवासिनी की कोमल स्मृति ही उसके लिए सब कुछ थी—वहाँ अन्त मे पूर्ण ब्राह्मणत्व मे ही वह अनंत सुख का सृजन करता है। चन्द्रगुप्त नाटक की सभी घटनाओं का केन्द्र यदि कोई है तो चाणक्य। सिंहरण, अलका आदि सभी का संबध चाणक्य से अधिक है। वही सभी को सलाह देता है, सबका मार्ग बनाता है। नायक तक का वह सूत्रधार है। अतएव यदि नाटक का कोई नायक है तो चाणक्य ही, चन्द्रगुप्त नहीं और यदि नाटक का कोई नाम रखा जा सकता है तो चाणक्य ही।

हृदय और मस्तिष्क

तक्षशिला के गुरुकुल मे वह एक शान्त प्रकृति का महात्मा है। उसमे न तो क्रोध है और न वह उसकी जगत प्रसिद्ध बुद्धि। वह केवल एक ब्राह्मण है।

"जो न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है। स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।"
उस गुरुकुल मे इतनी बडी घटना हो गई फिर भी उसे क्रोध न आया। केवल राष्ट्र का पतन ही उसे उत्तेजित कर देता है। फिर भी वह शान्त प्रकृति का पुरुष है। परन्तु अदृष्ट तो कुछ और ही सोचे बैठा था। वह अपने घर लौटता है; पिता के अपमान की बात सुनता है, शकटार के साथ अन्यायपूर्ण व्यावहार की कहानी सुनता है और अपने हृदय की मूर्ति सुवासिनी के पतन का दृश्य देखता है। मनुष्य का उत्तेजित होना स्वाभाविक ही है। वह क्रोधित हो उठता है, जल उठता है। फिर भी उसके हृदय की कोमल वृत्तियों का अन्त नहीं हुआ। वह अपने भग्न कुटीर के बाँस को भी जिसके चारों ओर उसके शैशव की स्मृतियाँ लिपट रही थी, उखाड़ कर फेक देता है। "शैशव की स्निग्ध स्मृति विलीन हो जा!" नंद के द्वार पर वह स्वार्थ के लिए जाता है, परन्तु राष्ट्र की भलाई का प्रश्न छिड़ गया। परमार्थ के लिए, राष्ट्र के लिए उसने राजा से विनय की लेकिन उसका अपमान हुआ। क्रोधानल और भी भड़क गया। वेकुसूर बदी बनाया गया। अब भी प्रेम! अब भी दया! उसके ऊपर कोई भी दया नहीं करता—वह क्यों किसी पर दया करे। वह शपथ लेता है, "दया किसी से न माँगूँगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा।" अभी भी वह सीधा ब्राह्मण ही है। अपने बचाव की सोचता है पर कोई युक्ति नहीं निकाल पाता। कारागार मे जलना भुजना लगा है। हृदय के कोमल भावों को दबाया जा रहा है परन्तु मस्तिष्क का कोई भारी कार्य नही हो रहा है।

"समीर की गति भी अवरुद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना! परन्तु मन में इतने संकल्प और विकल्प! एक बार निकलने पाता

तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है। जकड़ी हुई लोह श्रृंखले! एक बार तू फूलों की माला बन जा और मैं मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुन्दरता को भंग कर दूँ! क्या रोने लगूँ? इस निष्ठुर यंत्रणा की कठोरता से बिलबिलाकर दया की भिक्षा माँगूँ! माँगूँ कि 'मुझे भोजन के लिए एक मुट्ठी चने जो देते हो, न दो, एक बार स्वतंत्र कर दो!' नहीं, चाणक्य! ऐसा न करना! नहीं तो तू भी साधारण-सी ठोकर खाकर चूर-चूर हो जानेवाला एक वामी हो जावेगा। तब मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूँगा, और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा (ऊपर देखकर)—क्या कभी नहीं? हाँ हाँ, कभी किसी पर नहीं। मैं प्रलय के समान अबाध गति और कर्तव्य में इन्द्र के समान भयानक बनूँगा!"

चाणक्य—मुद्राराक्षस के चाणक्य का जन्म-सा हो रहा है।

चाणक्य छुटकारा पा लेता है। अब उसके हृदय नहीं, दया न वह किसी से माँगेगा और न अधिकार मिलने पर किसी को देगा। उसका मस्तिष्क खूब काम कर रहा है। चन्द्रगुप्त द्वारा वह सिकंदर को पराजित करता है—मालवा में उसकी विजय होती है। गणतंत्रों को एकत्रित कर चन्द्रगुप्त को सम्मिलित सेना का महाबलाधिकृत बनाने में उसकी कुशलता का सुन्दर चित्र मिलता है। उसकी बुद्धि को देखकर हम चकित हो रहते हैं। राक्षस को चालाकी से रोककर वह मालव की सेना की सहायता लेता है। कल्याणी को भी उसके प्रेम की याद दिला-कर—राजकुमारी तुम्हारे जाने से "उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जावेगा" रोक लेता है। कुशलता से राक्षस को फोड़ना चाहता है। मगध में षड्यंत्र रचाता है, विद्रोह फैलाता है, और अन्त में मगध का राज्य हस्तगत कर चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बिठाता है। कहाँ पर क्या

हो रहा है इसका पूर्ण ध्यान रखता है। अपनी कल्पना के लिए वह भले और बुरे का विचार नहीं करता और सफलता उसकी अंगुलों पर नाचती हो। "चाणक्य सिद्धि देखता है—साधन चाहे कैसे ही हों" मस्तिष्क का हृदय पर अधिकार हो गया।

लेकिन यह परिवर्तन क्यों हुआ? घटनाओं के कारण, नन्द की क्रूरता से पीड़ित होकर—विपत्तियों के बादल में। "पौधे अंधकार में बढ़ते हैं और मेरी नीतिलता भी उसी भाँति विपत्ति तम में लहलही होगी।" दाण्डायन के सदुपदेश में "चाणक्य! तुमको तो कुछ दिनों तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय में हलचल मची है, यह अवस्था सन्तोषजनक नहीं।"
परन्तु हृदय मृतप्राय भले ही हो जावे मरता नहीं। सुवासिनी, कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम अभी भी अपनी स्मृति से मानस मे तरंगें उठा देता है। सामने कुसुमपुर को देखकर उसकी स्मृतियाँ फिर हरी भरी हो जाती हैं।

"वह सामने कुसुमपुर है, जहाँ मेरे जीवन का प्रभात हुआ था। मेरे उस सरल हृदय में उत्कट इच्छा थी कि कोई भी सुन्दर मन मेरा साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय मे उत्सुकता थी और उसके लिए मन मे सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी। परन्तु संसार—कठोर संसार ने सिखा दिया कि तुम्हे परखना होगा। समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते है। जिससे मिलने के सम्भार मे इतनी धूम-धाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नही बनाये रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक उस श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है। मै—अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओं का कंकाल; कठोरता का केन्द्र! आह तो इस विश्व में मेरा कोई सुहृद नही? है, मेरा संकल्प; अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा

मित्र है। और थी एक क्षीण रेखा, वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ ? सुवासिनी ! न न न, वह कोई नहीं। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ। भयानक रमणीयता है। आज इस प्रतिज्ञा मे जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य का भी यौवन चमक रहा है। तृणशैया पर आधे पेट खाकर सो रहनेवाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण मुकुट ! और सामने सफलता का स्मृति सौध।"

कितना स्पष्ट अन्तर्द्वंद्व है। सुवासिनी का ध्यान विजय-लक्ष्मी से भरा जा रहा है—वही विजय लक्ष्मी जिसके लिए मनुष्य को कठोर बनना पड़ता है—अपनी कोमल वृत्तियो का दमन करना पड़ता है। चाणक्य भी वही करता है। कल्याणी प्रेम-वेदी पर बलिदान दे देती है, परन्तु उस ब्राह्मण के मुख पर एक क्षीण दुःख की रेखा भी नही—वह प्रसन्न ही है।

"चाणक्य—चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कण्टक हुए।

चन्द्र०—गुरुदेव इतनी क्रूरता !

चाणक्य—महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।" तो क्या सचमुच सुवासिनी विस्मृत हो गई। नहीं। हृदय मरता नहीं, मृतप्राय हो सकता है। सुवासिनी से फिर भेंट हुई। स्मृतिलता फिर लहलहा उठी—

"चाणक्य—मैं तुमसे बाल्यकाल से परिचित हूँ, सुवासिनी ! तुम, खेल में भी हारने के समय रोते हुए हँस दिया करतीं और तब मैं हार स्वीकार कर लेता। इधर तो तुम्हारा अभिनय का अभ्यास ही बढ़ गया है ! तब तो......
(देखने लगता है)

सुवासिनी—यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो ! फिर अपने को नहीं ? देखो दर्पण लेकर—तुम्हारी आँखों में यह कौन सा चित्र है !

प्रस्थान

चाणक्य—क्या ? मेरी दुर्बलता ? नहीं ।"

कितना सुन्दर चित्र है । समय ने फिर परिवर्तन कर दिया । सुवासिनी की उपेक्षा ने उसके हृदय को तोड़ दिया— चन्द्रगुप्त के व्यवहार ने उसे विरागी बना दिया । उसने सब कुछ छोड़ देने का संकल्प कर लिया ।

"चन्द्रगुप्त ! मै ब्राह्मण हूं । मेरा साम्राज्य करुणा का था. मेरा धर्म प्रेम का था । आनंद समुद्र मे शांतिद्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मै । चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्य श्यामला कोमला, विश्वम्भरा मेरी शैय्या थी । बौद्धिक विनोद कर्म्म था, सन्तोष धन था । उस अपनी, ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोड़कर कहाँ आ गया ! सौहार्द के स्थान पर कुचक्र, फूलों के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान मे भय ! ज्ञानामृत के परिवर्तन मे कुमंत्रणा । पतन और कहाँ तक हो सकता है ! ले लो मौर्य्य चन्द्रगुप्त ! अपना अधिकार छीन लो । यह मेरा पुनर्जन्म होगा ! यह मेरा जीवन राजनैतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है । किसी छाया-चित्र, किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूँ । शान्ति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया ! जान गया मै कहाँ और कितने नीचे हूँ !"

सुवासिनी जो स्वयं अपने को देने आई थी उसी सुवासिनी को भी छोड़ दिया —

"सुवासिनी ! वह स्वप्न टूट गया । इस विजन बालुका सिंधु मे एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक ही भ्रू-भंग ने उसे लौटा दिया ! मै कंगाल हूँ ।"

फिर भी उस विरागी के आँखों मे आसू थे—सुवासिनी के शब्दो ने उसे एक बार फिर विह्वल कर दिया । परन्तु अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त ब्राह्मण के लिए अब कुछ उपाय न था । उसे अपने ब्राह्मणत्व की उपलब्धि मे ही अनंत सुख का सृजन करना था ।

"सुवासिनी—(दीनता से चाणक्य का मुंह देखती है)—तो विष्णु-

गुप्त, तुम इतना बड़ा त्याग करोगे । अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे ! और सो भी मेरे लिए !

चाणक्य—(घबड़ाकर)—मैं बड़ा विलम्ब कर रहा हूँ । सुवासिनी, आ ! दाण्ड्यायन के आश्रम में पहुँचने के लिए मैं पथ भूल गया हूँ । मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना; सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना; यही तो ब्राह्मण का आदर्श है ! मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चंद्र देखकर इस रंगमंच से हट जाना है !

सुवासिनी—महापुरुष ! मैं नमस्कार करती हूँ ! विष्णुगुप्त, तुम्हारी बहिन तुमसे आशीर्वाद की भिखारिन है । (चरण पकड़ती है)

चाणक्य—(सजल नेत्र से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए) सुखी रहो ।"

प्रथम अंक का ब्राह्मण अन्तिम अंक के ब्राह्मण में आ गया है—

"मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ । विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आई । आज मुझे अन्तर्निहित, ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है ।"

यही इस विकट चरित्र का संक्षिप्त इतिहास है, सुन्दर चित्र है, अनुपम प्रदर्शन है ।

उपसंहार

प्रसाद की नाट्यकला और उनके मुख्य नाटकों का हम अध्ययन कर चुके हैं। नाटकों के अध्ययन में हम केवल घटना-संगठन और चरित्र ही देख सके हैं। अतएव यहाँ पर संक्षेप में उनके आदर्शों का विवेचन किया जा रहा है। नाटककार राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत था। आधुनिक भारत में कुछ भी स्पृहणीय नहीं अतएव संसार में भारत की महानता स्थापित करने के लिए अपना कुछ भारतीत्व बताने के लिए उसे पाठकों को पूर्व युगों मे ले जाना पड़ा है क्योंकि ये ही युग हमारे गौरवपूर्ण इतिहास के चित्र हैं। प्रसाद जी इन चित्रों को उपस्थित करने मे पूर्ण सफल हुए हैं। साथ ही उनका उद्देश्य आज के पतित देश वासियो का अदर्श संगठन रहा है और इसीलिये उनका ध्यान इतिहास की ओर विशेष रहा है। प्रसाद जी ने स्वयं ही अपने उद्देश्य को विशाख की भूमिका में व्यक्त किया है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यंत लाभदायक होता है... . क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है.... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" सम्भवतः इसीलिए उनका ध्यान इतिहास की ओर विशेष रहा है। प्रसाद के नाटकों को साहित्य की वस्तु समझकर हम उनके इतिहास को भूल जाते हैं परन्तु जैसा हम वस्तु-विवेचन करते समय बता आये हैं, उनके लिए इतिहास का स्थान मुख्य है साहित्य का गौण; और यह इतिहास-

प्रेम देश-प्रेम का ही एक रूप था। उसमें अपनत्व बताने की चेष्टा थी। अतएव प्रसाद जी को केवल साहित्यिक समझना अन्याय होगा क्योंकि इस रूप मे उनकी रचनाएँ अधिक सफल नहीं हैं। पर देश-सेवा मे सलग्न नेता के रूप मे वे हमारी राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रित करने मे जितने सफल हुए हैं उतना हिन्दी का कोई भी लेखक नहीं। प्रेमचंद जी आधुनिक भारत की दयनीय दशा का चित्रण कर हमारे हृदय मे निराशा ही उत्पन्न करते हैं। मैथिलीशरण गुप्त जी ने अवश्य ही अपने काव्यो मे प्राचीन भारतीय सस्कृति का चित्रण किया है, परन्तु उनमें आधुनिकता का प्रभाव इतना अधिक है कि गुप्त जी न तो प्राचीन-काल के ही चित्र दे सके हैं और न आधुनिक काल के। नैराश्यपूर्ण वर्तमान और भविष्य मे प्रसाद जी के आशावादी नाटक राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रसर करने के अनुपम साधन हैं। मातृगुप्त की ये पक्तियाँ हमारे उत्साह को आपसे ही आप बढ़ाती हैं—

"वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान।
वही है शांति वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान।
जियें तो सदा इसी के लिए यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष।"

आधुनिक साम्प्रदायिकता मे ही हमारा अवसान है—

"तुम मालव हो और यह मगध। यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।"

—चन्द्रगुप्त

राष्ट्रीय नेता की इन नाटकों मे देश की स्वतंत्रता के लिए पुकार है, वर्तमान के लिए आशा है और भविष्य के लिए सुखद सन्देश। हम पश्चिमीय आदर्शों की ओर झुके जा रहे हैं, उनमे नवीनता पाते हैं, परन्तु ये सब आदर्श हमारे भारतवर्ष की ही तो देन हैं—

उनके नाटक क्या महत्त्व रखेंगे ? नाटकों का विवेचन करते हुए हम देख आये हैं कि प्रसाद जी घटना-संगठन मे सफल नहीं हो सके हैं। उनके कथानक बड़े जटिल और विस्तृत हैं और इस दृष्टि से प्रसाद जी उत्तम नाटककार नहीं कहे जा सकते। चरित्र-चित्रण में भी वे सफल नहीं हो सके है। उनमे प्रतिभा थी देवसेना, स्कन्द, चाणक्य आदि कुछ चरित्र उन्होंने इतने सुन्दर चित्रित किये हैं कि इनके कारण उनकी कृतियाँ अमर रहेंगी, परन्तु घटना विस्तार और पात्र-आधिक्य के कारण अन्य चरित्र उत्तम नहीं हो सके हैं। इस दशा में प्रसाद जी की रचनाएँ शायद भविष्य मे उतनी आदरणीय न हो सके जितनी वे आज हैं।

प्रसाद के नाटक उनकी भावुकता के कारण भी पठनीय रहेंगे। शेक्सपियर के समान उनकी उक्तियाँ सभी के मुँह पर रहेंगी। ये उक्तियाँ प्रसाद जी की भावुकता, कल्पना, शब्द-सौष्ठव और रसात्मकता से पूर्ण हैं। वे हमारे लिए नीति का मार्ग भी निर्धारित करती हैं।

"देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिए रुक जाता है और अपना चलना बंद कर देता है।"

—चन्द्रगुप्त

"मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली भाँति परिचित रहता है उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिए!"

—चन्द्रगुप्त

"नियति सम्राटों से भी प्रबल है।"

—चन्द्रगुप्त

"महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।"

—चन्द्रगुप्त

"स्मृति बड़ी निष्ठुर है" "यदि प्रेम ही जीवन है तो संसार ज्वाला-मुखी है।"

—चन्द्रगुप्त

भावुकता और रचना-विधि मे ये निम्न पंक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं।

"समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते हैं जिससे मिलने के सम्भार में इतनी धूमधाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाये रह सकता।"

—चन्द्रगुप्त

अनेको उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं। रसात्मकता और मुख्य चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण साहित्य मे प्रसाद के नाटकों का स्थान सदैव ही ऊँचा रहेगा।

आधुनिक नाटककारों मे तो संख्या और रचना की दृष्टि से इनका स्थान सर्वोच्च है। क्योकि अभी तक उग्र जी का महात्मा ईसा छोड़कर और कोई अन्य प्रसाद के नाटकों के समान सुन्दर रचना देखने मे नहीं आई। सुदर्शन जी का 'अंजना' भाषा और काव्य की दृष्टि से बहुत सुन्दर है परन्तु कथा-संगठन और चरित्र-चित्रण में वह अधिक सफल नहीं। माखनलाल जी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' अवश्य ही कुछ सफल कृति है, परन्तु वह प्रसाद के नाटको के समक्ष नहीं रखी जा सकती।

अभी कुछ वर्षों से आधुनिक नाटककारों ने यथार्थवाद को ही अपना क्षेत्र बनाया है। इन पर इब्सन, गेल्सवर्दी वा बर्नार्डशा का पूरा प्रभाव है परन्तु इनमे हमे इन पश्चिमी-नाटककारों के समान जीवन की गहराई का चित्रण नहीं मिलता। प्रसाद जी इस समूह से अलग हैं।

भविष्य में क्या होगा? यह तो भविष्य के गर्भ में ही है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटक उस समय भी साहित्य की देन ही रहेगे, यद्यपि अभी तो नाटकों का भविष्य ही सन्देहात्मक है।

अनुक्रमणिका